दृष्टिकोण

[कुछ मानसिक प्रवृत्तियाँ]

प्रो० कन्हैयालाल सहल, एम०ए०

अध्यक्ष हिन्दी संस्कृत-विभाग, बिड़ला कालेज पिलानी

१९५१

आत्माराम एण्ड संस

काश्मीरी गेट, दिल्ली

मूल्य १॥)

दो शब्द

हिन्दी साहित्य में छोटे निबन्ध कम लिखे गये हैं। यह उसका उत्थान काल है। ऐसी अवस्था में गद्य के भाग्य में प्राय मास्टरी पडती है। मित्र बनकर बात करने का अवसर उसे कम मिलता है। गद्य लेखक कहता है, तथाकथित कवि को काम नहीं है। वह स्वच्छन्द घूमता है तो घूमे। मुझे घर-गिरस्ती संभालनी है। जमकर न बैठूँगा तो कैसे चलेगा। उसकी बात समझ में आती है। जान बूझ कर ही वह भारी काम अपनाता है। काव्य के माधुर्य और मर्म का जितना ज्ञान उसे है, कवि को भी कदाचित् उतना न हो। फिर भी उसे जो मार्ग ग्रहण करना पडता है, वह लवा है और वहाँ के ऊँचे फल तोड लाने में फिसल कर गिरने का सकट हर घडी उसके सामने रहता है।

बहुत पहले एक बार स्वर्गीय श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी से चर्चा चली थी। मैंने पूछा था—इतने लबे-लबे सम्पादकीय न लिखे जॉय तो क्या ठीक न होगा ? बात उनके साथ चल रही थी तो वह उनके द्वारा सम्पादित साप्ताहिक "प्रताप" को लेकर होनी ही चाहिए। समझ लीजिए, जब गणेशशङ्कर जैसे रचनाकार को उलहना सुनना पडता है, तो दूसरों के विषय में क्या कहा जाय ? श्री विद्यार्थी जी ने उत्तर दिया था—जब एक एक कालम के सम्पादकीय लिखे जाने लगेंगे तब समझा जायगा, पाठकों का स्तर उठ गया है। अभी तो उन्हें शिक्षित करने का भार भी हमारे ऊपर है। और हम जानते हैं, विद्यार्थी जी के उन बड़े-बडे सम्पादकियों ने कितना अधिक काम किया है।

दो शब्द

इस लिए जब श्री सहल के ये छोटे निबन्ध देखे, तब प्रसन्नता इस कारण और भी हुई कि अब स्थिति सुधार पर है। दो चार पृष्ठ के छोटे निबन्ध देखकर मुझ जैसे भीरु पाठक को स्वाभाविक सुख मिलता है। सन्तोष होता है, लेखक हमारे समय का भी मूल्य जानता है। 'दृष्टिकोण' ऐसी ही रचना है। पढने के लिए बैठकर यह नहीं लगा कि कक्षा में बैठे हैं। लेखक की ओर से छुट्टी रही है, जितनी देर रहना हो रहो। बीच में भी उठकर जा सकते हो और मन हो तो फिर लौटकर आ जाओ। अपनी कहूँ तो मैंने प्रायः सब निबन्ध प्रसन्नता से पढे हैं। पढ़कर ज्ञान मे वृद्धि हुई है और जैसे इसका शुल्क हमसे नहीं चाहा गया। प्राध्यापक सहल को इन निबन्धो मे मित्र-गोष्ठी मे बैठे बात करते हुए पाते हैं। मेरे लिए तो उनका प्राध्यापन भी स्पृहणीय है। उनकी आलोचनाए, विवेचन और टीकाएँ जहाँ मिलती हैं, पढ़कर लाभ उठाने का लोभ नहीं छोड पाता। मैं उनके नये 'दृष्टिकोण' का स्वागत आनन्द के साथ करता हूँ।

चिरगाँव
शिवरात्रि, २००७

सियारामशरण गुप्त

विषय-सूची

: एक :

टन् टन् टन्

पहलवान की तरह डंड पेलना मुझे हास्यास्पद ज्ञात पड़ता है। फुटबाल के खेल में जब मेरे एक मित्र अपने कुछ दाँतों से हाथ धो बैठे और हाकी खेलते एक खिलाड़ी की एक आँख ही जाती रही तो मुझ में इन विदेशी खेलों की क्रूरता पर भी मन ही मन रोष उपजा। खास अच्छा खिलाड़ी होते हुए भी मैंने इन खेलों से अंतिम विदा ली और प्रातः सायं भ्रमण को ही सर्वश्रेष्ठ और निरापद व्यायाम समझ कर अपने जीवन का अचूक नियम बना लिया और उसमें समय की इतनी पाबन्दी कि जब मैं दरवाजा खोल कर भ्रमणार्थ बाहर निकालता हूँ तो उसी से श्रीमतीजी घड़ी का काम ले लिया करती हैं। भ्रमण के लिए प्रातःकाल तो मैं अकेला ही निकलता हूँ और सायंकाल अपने कुछ चुने हुए मित्रों को साथ ले लेता हूँ। एक दिन प्रातःकाल जब मैं भ्रमण के लिए निकला तो अचानक ही एक सज्जन साथ हो लिए और 'जयहिन्द' कह कर बिना मेरे प्रत्यभिवादन की प्रतीक्षा किये ही बोल उठे—आज आपसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ। मैंने कहा—भगवान का भजन करो, अलस्सुबह ही कैसा प्रश्न ? किन्तु जब उनका चेहरा उतरता दिखाई पड़ा और वे अपने हठ पर अड़े रहे तो मैंने इस आत्म-संतोष के साथ कि गांधीजी भी तो भ्रमण के समय ग्रन्था-

समाधान करते चलते थे, जिज्ञासु महोदय को प्रश्न करने की पूरी स्वतन्त्रता दे दी। मेरे मित्र ने पूछा—आपका क्या खयाल है, गाधीजी ने अपनी आत्म-कथा में अपनी दुर्बलताओं—यहाँ तक कि अपनी विषय-लोलुपता तक का जो उल्लेख किया है, ऐसा वे क्योंकर सके ? मैंने कहा—स्वय महात्माजी से यदि यह प्रश्न पूछा जाता तो शायद वे यही कह देते—विश्व की प्रयोगशाला में बैठ कर जिसने सत्य के साथ प्रयोग किये हैं उस सत्याग्रही के लिये सत्य पर आवरण डालना अच्छा नहीं। किन्तु मैं तो इस प्रश्न को मनोवैज्ञानिक की गहराई से देखना चाहता हूँ। अपनी जिन दुर्बलताओं का महात्माजी ने अपनी आत्म-कथा मे उल्लेख किया है, उनसे वे बहुत ऊँचे उठ चुके थे, इसलिये उन दुर्बलताओं के साथ वे खिलवाड कर सकते थे। जो व्यक्ति किसी जमाने मे दुर्बलताओं का शिकार रहा हो वह यदि आज उनसे बहुत ऊपर उठ जाय तो यह तो उसकी मानसिक प्रगति का ही परिचायक है। मैं अपने बहुत से धनवान मित्रों को जानता हूँ जो दाने-दाने को मोहताज थे, किन्तु आज लाखों की जायदाद के मालिक हैं। वे मुझसे अपने निर्धन काल की घटनाओं का उल्लेख करके सुख का अनुभव करते हैं। ऐसा करके वे अपनी शक्ति का ही उद्घोष करते हैं। मेरे कुछ वकील मित्र हैं जिनकी प्रैक्टिस बडी अच्छी चलती है। किस प्रकार प्रारम्भ मे जब उन्होंने वकालत करना शुरू किया—कैसे उल्टे मुँह की उन्होंने खाई थी, पुराने सब दु:खद प्रसंग वे सुख के साथ सुना जाते हैं। आये दिन समाचार पत्रों में प्रसिद्ध लेखकों के अतीत के सस्मरण जब मैं पढता हूँ तो देखता हूँ, किस प्रकार हँसी-हँसी में आनन्द लेते हुए वे बतलाते हैं कि

कोई ज़माना था जब संपादक उनकी पाण्डुलिपि को अस्वीकृत कर लौटा दिया करते थे। आज वे अच्छे लेखक बन गये हैं, इसलिये अतीत की दुःखद घटनाओं का स्मरण भी उनके लिए सुखदायक है। जिन लेखकों के सभी लेख संपादक वापिस कर देते हैं, वे अपने मित्रों के सामने इस विषय की चर्चा नहीं करते क्योंकि ऐसा करके वे अपनी शक्ति-हीनता का परिचय देना नहीं चाहते। और आज जो प्रसिद्ध लेखक बने बैठे हैं, वे भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में अपनी असफलताओं का कच्चा चिट्ठा लोगों के सामने नहीं रखते होंगे। जो मनुष्य झूठा है वह झूठ को समाज के सामने नहीं रखना चाहता; जो कमज़ोर है वह कमज़ोरी को छिपाना चाहता है। ऐसा करना हीनता की ग्रन्थि का परिणाम हो सकता है। इसके विरुद्ध सच्चा आदमी अपने अतीत की बुराइयों को भी जन-समाज के समक्ष रख सकता है। ऐसा करने से लोग यही तो समझेंगे न कि इतना समुन्नत व्यक्ति भी किसी समय इतना दुर्बल था। समझें, उसकी बला से—किन्तु साथ-साथ वे यह भी तो समझ सकते हैं कि जो व्यक्ति इतना दुर्बल था, वह इतना सबल हो गया।

मनोवृत्तियों के जो चमत्कार हैं, जो भिन्न-भिन्न रंग वे बदलती हैं, उनका विश्लेषण भी बड़ा मनोरंजक है। राज्याभिषेक हो जाने के बाद जब रामचन्द्र अपने वनवास के चित्रों को देखा करते थे तब उन्हें वन के दुःखों का स्मरण हो आता था किन्तु उन दुःखों के स्मरण ने भी उन्हें सुख ही मिलता था। इस संबन्ध में कवि कुलगुरु ने ठीक ही कहा है:—

"प्रामानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्।"

सुख की स्थिति मे जब हम अनुभूत दुःखों का स्मरण करते तो हैं हमें वह स्मरण दुखदायी नहीं होता क्योंकि आज हम उन दुःखो से सर्वथा दूर हैं किन्तु दुःखावस्था में सुखो का स्मरण अत्यन्त दुःखदायी होता है। कवि की निम्नलिखित पंक्तियो में यही तथ्य प्रकट हुआ है—

सुख में दुख की स्मृतियाँ मधुर
दु:ख में सुख की स्मृतियाँ शूल
विरह मे किन्तु मिलन की याद
नहीं मानव-मन सकता भूल। (दिनकर)

इसी प्रकार जो व्यक्ति बुरायों से दूर हो चुका है, वह बुराइयों का वर्णन करता है तो ऐसा जान पडता है कि उन्नति के अत्युच्च शिखर पर बैठा हुआ वह बुराइयों को निम्नतम गर्त मे पडी हुई देखता है जहाँ से ऊँची उठकर वे उसे हानि नहीं पहुँचा सकती। गाधीजी ने अपनी आत्म-कथा में अपनी दुर्बलताओं का जो उल्लेख किया है, उसका भी यही रहस्य है।

ऊपर के उत्तर से सन्तुष्ट होकर उक्त सज्जन जब दूसरा प्रश्न पूछने को उतारू हुए तो मैंने कहा—सुनते नहीं, कालेज की घण्टी टन्-टन्-टन बजा रही है।

: दो :

बुड्ढे बच्चे

कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो वयस्क होने पर भी बुढ़ापा साथ लिये फिरते हैं। मेरे एक मित्र हैं जिनमें कष्ट झेलने का माद्दा है ही नहीं। जरा-सी कहीं चोट आ जाय तो दूसरों को दिखलाते फिरेंगे, कहीं खरोंच भी लग जाय तो भी आप चाहेंगे कि दूसरे उनके साथ सहानुभूति प्रदर्शित करें। यदि कहीं से सहानुभूति सूचक पत्र अथवा तार मिल जाय तब तो आप बाँसों उछल पड़ेंगे। एक बार हज़रत सिल्ली पर उस्तरे की धार बना रहे थे। आपका ध्यान कहीं दूसरी ओर था, उस्तरा अनामिका के बीच से निकल गया। लोहू की धारा बह निकली। वैद्य डाक्टरों को घर पर इकट्ठा कर लिया। महीने भर अँगुली का इलाज चलता रहा। अँगुली अच्छी हो गई तब भी आप उसके कुछ दिनों तक केवल इसलिये पट्टी बांध रहे कि ऐसे अभिनय से आपको अपने मित्रों की सहानुभूति अनायास मिल जायगी। अब उस घटना को महीनों बीत गये हैं और अँगुली भी अब बिलकुल दुरुस्त है किन्तु फिर भी आप कहते हैं कि मेरी अँगुली विकृत हो गई, उसके अन्दर पड़ी हुई रेखा दूसरी अँगुलियों के साथ उसको एकरूप नहीं होने देती। आपकी अवस्था तीस से ऊपर हो चुकी है किन्तु फिर भी बच्चे की तरह सारी जिम्मेवारी आप दूसरों पर डाल देते हैं। हर एक बात

के लिये आप दूसरो पर निर्भर रहते हैं । जब मैं कहता हूँ कि यार बड़े भाग्यशाली हो, तुम्हें न जाने क्योंकर सबकी सहायता अथवा सहानुभूति मिल जाती है तब तो आपका रोम-रोम खिल उठता है किन्तु जब 'बुड्ढा बच्चा' कह कर मैं उनको बनाने लगता हूँ तब आप आँख दिखाने लगते हैं !

"सभ्यता ! यह सभ्यता तो ढकोसला है । सिक्योरिटी सुख-शान्ति और उन्नति की सब बातों का असली मतलब यह है कि मानव का बचपन लम्बा होता जाता है । जो जितना सभ्य है, उसकी बचपन की अवस्था उतनी लम्बी है। सभ्यता तो परावलम्बिता का नाम बन गया है। पशुओं में बचपन एक साल का होता है, हद से हद दो साल का । जंगली लोगों में दस-बारह साल का होता होगा । हम लोग इतने सभ्य हो गये हैं कि अब तीस-तीस साल के बुड्ढे बच्चे दिखलाई पड़ने लगे हैं।"

एक युवक था। अवस्था उसकी २५ से कम न होगी । उसकी हरकतों को देखकर मेरे हृदय पर धक्का-सा लगा। एक बार उसकी कार मेरे यहाँ पहुँची तो मैं उसे देखकर दंग रह गया। उसने आम खाने की इच्छा प्रकट की। मैंने कहा—मैं अभी आम मँगाये देता हूँ किन्तु उसमे इतना धैर्य कहाँ ? वह बच्चे की तरह 'आम-आम' की रट लगाने लगा । जब आम आया तब उसका चिल्लाना दूर हुआ । वह अपने आप उठकर कार में भी नहीं बैठता था, उसे गोद मे ले कर कार में बिठलाना पढ़ता था। आप यह न समझिये कि वह पगु था किन्तु माता-पिता के अत्यधिक लाडचाव के कारण वह २५ वर्ष का होने पर भी बच्चा ही रह गया । वह तो सच्चे अर्थ में बच्चा था। उसकी हरकतें तो सचमुच बच्चों जैसी थी।

जीवन मे अनेक दृश्य देखे हैं किन्तु मेरे मानस-पट पर इस दृश्य की जो छाप अङ्कित हुई है वह धुलाये नहीं धुलती।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो एक दम छलांग मार कर बाल्यावस्था से वृद्धावस्था मे पहुँच जाते हैं। युवावस्था उन्हें आती ही नहीं। यौवन की रङ्गरलियां और अठखेलियां उनके लिए अपरिचित सी ही रह जाती हैं। अस्सी अस्सी वर्ष तक के बुड्ढे बच्चों की मृत्यु होते देखी गई है। आप कहेंगे, वृद्धावस्था तो एक प्रकार से दूसरा बचपन ही है। किन्तु आप सच मानिये, कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो क्या युवावस्था, क्या प्रौढ़ावस्था और क्या वृद्धावस्था तीनों अवस्थाओं में बच्चे ही रह जाते हैं। ऐसी ग्रन्थियाँ उनके स्वभाव में बन जाती हैं जिनसे वे किसी भी अवस्था में मुक्त नहीं हो पाते।

एक बार एक कबूतर छत-पर से उड़ता हुआ गया। मैंने एक बच्चे को दिखलाकर कहा—देखो, कबूतर उड़ रहा है। बच्चे ने कहा—कबूतर नहीं, पंडुकी है। मैंने जरा तैश में आकर कहा—कैसी पंडुकी है वे? इतना सुनना था कि बच्चा रूठ गया और मुँह फुला लिया। मेरे एक मित्र हैं जो विद्वान हैं, अध्ययनशील हैं, मौलिक विचारक हैं, नित्य नवीन कल्पनाओं के उद्भावक हैं किन्तु बच्चे की तरह इस बात की आशा रखते हैं कि जो कुछ वे कहें उसे ब्रह्मवाक्य समझ लिया जाय. जो उनके विरुद्ध बोलने की कोशिश करता है उसके साथ वे जूझ पड़ते हैं। वे ग्रीस के नार्सीसस की तरह हैं जो अपने ही रूप पर मुग्ध हो उठा था। उनके विचार प्रामाणिक, उनके भाव प्रामाणिक, उनका रहन-सहन प्रमाणिक! कभी-कभी तो वे बच्चों की-सी दलील देने लगते हैं।

एक दिन किसी वादविवाद के सिलसिले में कहने लगे—मैंने फलां व्यक्ति को देखा है, आपने उसके केवल ग्रन्थ पढ़े हैं। मैंने कहा—गाँधी जी के दर्शन मात्र करने वाला व्यक्ति अनिवार्यत' गांधीवाद के अध्येता से बढ़कर हो, यह तो बड़ी लचर दलील है। फिर बात का प्रवाह दूसरी ओर वह चला। बच्चा कभी गल्ती नहीं करता और अपनी समझ से ये विद्वान् भी कभी गल्ती नहीं करते। अपनी अहंमन्यता में ये दूसरे को कुम्हड-बतिया समझते हैं 'जो तर्जनि देखत डर जाहीं।' सृष्टि कर्त्ता परमात्मा भी उनकी दृष्टि से एक भूल है जो वे लोगों के दिमाग से निकाल डालना चाहते हैं।

कहते हैं अचेतन मन का भाण्डार अवचेतन तथा चेतन की अपेक्षा कहीं अधिक है। अचेतन मन की क्रियाओं को हम स्वय नहीं जान पाते, दूसरे ताड जाते हैं और हम ताकते ही रह जाते हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है कि अपने मन क गुप्त रहस्यों को हम नहीं जान पाते, कोई मनोविश्लेषक मित्र उसे जान लेते हैं। हम प्रगतिशील है और इस प्रगतिशील युग मे हमें चारों ओर देखते हुए आगे बढ़ना चाहिये। जार्ज बर्नर्डशा ने एक बार लिखा था कि यदि कोई पुरुष या स्त्री सामान्य ढंग से पैदा न हो कर अडे मे पलता रहे और करीब बीस वर्ष की युवावस्था में अडा फोड़कर बाहर निकले तो वह इस कार्य-व्यस्त जगत् को देख कर चकित हो जायगा। संसार की इस महान् हलचल को देखकर वह पूछेगा—"यह सब क्या तमाशा हो रहा है?" किन्तु चारों ओर देखकर भी हम इस प्रगति को देख नहीं पाते, विकृति हमारा पीछा नहीं छोडती। हममें से बहुत से ऐसे हैं जो बचपन को साथ लेकर आगे बढ रहे हैं। मैं पूछता हूँ—यह सब क्या तमाशा हो रहा है?

काश कि हम जान पाते !

मेरे एक सम्मान्य मित्र हैं जो सायंकाल घूमने के लिए साथ हो लेते हैं। वे चाहते हैं कि मै उन्हीं की बातें सुनता रहूँ, उन्हें इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं कि जो मै कह रहा हूँ उसमें दूसरे की दिलचस्पी है या नहीं । कभी भूलकर अपना दृष्टिकोण भी उनके सामने रख देता हूँ तो आप उसे कभी स्वीकार नहीं करते । मैं लाख सही बात कहूँ किन्तु उसका विरोध करने मे, उसको किसी प्रकार काट देने में ही आप अपना बड़प्पन समझेंगे। किसी काम को करने के लिए कहने पर बच्चा उसे नहीं करता, निषेध करने पर करने लगता है। मेरे इन मित्र की अवस्था ४० से अधिक होगई है किन्तु हैं वे अभी तक निरे बच्चे ही। इन्हें मैं 'बुड्ढा बच्चा' कहता नहीं, कभी कहदूँ तो तुरन्त वे मेरी नीयत पर शक करने लगेंगे । एक दिन मैंने कहा—अमुक व्यक्ति उनके भाई होते हैं। कहा—भाई हो ही नहीं सकते, और कुछ भले ही हों । यह उत्तर सुनकर जब मैं हंसी से लोटपोट हो गया तब वे कुछ सूने-सूने से दिखलाई पड़े । किसी भी बात को सुनकर उसका निषेध कर देने की उनकी आदत ही पड़ गई है, वे उससे लाचार हैं और फिर इनका हठ भी बच्चे का सा हठ है।

ग्रीस के सुकरात ने तो न जाने कौन से दार्शनिक अर्थ में कहा था—अपने आप को जानो । किन्तु मैं चाहता हूँ कि ये बुड्ढे बच्चे यदि यह जान लें कि बचपन उनके साथ चिपटा हुआ चला आ रहा है तो क्या यह इनके लिए 'आत्मज्ञान' से किसी क़दर कम है ?

× × ×

एक दिन किसी वादविवाद के सिलसिले में कहने लगे—मैंने फ़लां व्यक्ति को देखा है, आपने उसके केवल ग्रन्थ पढ़े हैं। मैंने कहा—गाँधी जी के दर्शन मात्र करने वाला व्यक्ति अनिवार्यत गांधीवाद के अध्येता से बढ़कर हो, यह तो बड़ी लचर दलील है। फिर बात का प्रवाह दूसरी ओर बह चला। बच्चा कभी गल्ती नहीं करता और अपनी समझ से ये विद्वान् भी कभी गल्ती नहीं करते। अपनी अहंमन्यता में ये दूसरे को कुम्हड़-बतिया समझते हैं 'जो तर्जनि देखत डर जाहीं।' सृष्टि कर्त्ता परमात्मा भी उनकी दृष्टि से एक भूल है जो वे लोगों के दिमाग़ से निकाल डालना चाहते हैं।

कहते हैं अचेतन मन का भाण्डार अवचेतन तथा चेतन की अपेक्षा कहीं अधिक है। अचेतन मन की क्रियाओं को हम स्वय नहीं जान पाते, दूसरे ताड जाते हैं और हम ताकते ही रह जाते हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है कि अपने मन के गुप्त रहस्यो को हम नहीं जान पाते, कोई मनोविश्लेषक मित्र उसे जान लेते हैं। हम प्रगतिशील हैं और इस प्रगतिशील युग में हमे चारों ओर देखते हुए आगे बढ़ना चाहिये। जार्ज बर्नर्डशा ने एक बार लिखा था कि यदि कोई पुरुष या स्त्री सामान्य ढंग से पैदा न हो कर अंडे में पलता रहे और करीब बीस वर्ष की युवावस्था में अंडा फोड़कर बाहर निकले तो वह इस कार्य-व्यस्त जगत् को देख कर चकित हो जायगा। संसार की इस महान् हलचल को देखकर वह पूछेगा—"यह सब क्या तमाशा हो रहा है ?" किन्तु चारों ओर देखकर भी हम इस प्रगति को देख नहीं पाते, विकृति हमारा पीछा नहीं छोडती। हममें से बहुत से ऐसे हैं जो बचपन को साथ लेकर आगे बढ रहे हैं। मैं पूछता हूँ—यह सब क्या तमाशा हो रहा है ?

काश कि हम जान पाते !

मेरे एक सम्मान्य मित्र हैं जो सायंकाल घूमने के लिए साथ हो लेते हैं। वे चाहते हैं कि मैं उन्हीं की बातें सुनता रहूँ, उन्हें इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं कि जो मैं कह रहा हूँ उसमें दूसरे की दिलचस्पी है या नहीं। कभी भूलकर अपना दृष्टिकोण भी उनके सामने रख देता हूँ तो आप उसे कभी स्वीकार नहीं करते ! मैं लाख सही बात कहूँ किन्तु उसका विरोध करने में, उसको किसी प्रकार काट देने में ही आप अपना बड़प्पन समझेंगे। किसी काम को करने के लिए कहने पर बच्चा उसे नहीं करता, निषेध करने पर करने लगता है। मेरे इन मित्र की अवस्था ४० से अधिक होगई है किन्तु हैं वे अभी तक निरे बच्चे ही। इन्हें मैं 'बुड्ढा बच्चा' कहता नहीं, कभी कहदूँ तो तुरन्त वे मेरी नीयत पर शक करने लगेंगे। एक दिन मैंने कहा—अमुक व्यक्ति उनके भाई होते हैं। कहा—भाई हो ही नहीं सकते, और कुछ भले ही हों। यह उत्तर सुनकर जब मैं हंसी से लोटपोट हो गया तब वे कुछ सूने-सूने स दिखलाई पड़े। किसी भी बात को सुनकर उसका निषेध कर देने की उनकी आदत ही पड़ गई है, वे उससे लाचार हैं और फिर इनका हठ भी बच्चे का सा हठ है।

ग्रीस के सुकरात ने तो न जाने कौन से दार्शनिक अर्थ में कहा था—अपने आप को जानो। किन्तु मैं चाहता हूँ कि ये बुड्ढे बच्चे यदि यह जान लें कि बचपन उनके साथ चिपटा हुआ चला आ रहा है तो क्या यह इनके लिए 'आत्मज्ञान' से किसी क़दर कम है ?

× × ×

हाँ, क्या स्त्रियों मे बुड्ढी बच्चियां नहीं होतीं ? अवश्य होती होंगी । नव-वधू जब घर में आती है तब भी सास अपने पुत्र से यही आशा रखती है कि वह पूर्ववत् उससे ही सर्वाधिक प्रेम करता रहे—यह भी चाहती है कि वधू के प्रेम और आदर का हिस्सा भी सबसे अधिक उसे ही मिले । बच्चे भी तो यही चाहते हैं । हर एक बच्चे की सामान्यत यही इच्छा देखी जाती है कि उसके माता-पिता अथवा गुरुजनों के प्रेम का एकाधिकारी वही बना रह जाय । सास भी क्या इसी मनोवृत्ति का परिचय नहीं देती ? बुड्ढी बच्चिया हों अथवा बुड्ढे बच्चे, दोनों ही भयावह हैं और इनसे तो भगवान ही बचावे !

: तीन :

उतार फेंक इस कूबड़ को !

सामान्यतः मनुष्य के सब अंग एक साथ ही नहीं बुढ़ाते। किसी-किसी की आँखे बीस बरस मे ही सठिया जाती हैं, तो कानों की शक्ति साठ वर्ष तक बीस वर्ष के युवा की तरह बनी रहती है; मुँह चालीस—पैंतालीस वर्ष में ही पोपला जाता है तो चलने-फिरने की शक्ति में कोई खास फर्क नहीं पडता। और यही हाल है करीब डेढ़ सेर वजन वाले भूरे रंग के उस थोड़े से गूदे का जिसे आप मस्तिष्क कहते हैं और जिसमें बडी अद्भुत करामात भरी रहती है। किसी-किसी मनुष्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसके दिमाग के कल-पुर्जे ढीले पड़ गए हों किन्तु अन्य सब अंगों से वह इस तरह जीता चलता है जैसे कोई युवा जी रहा हो। क्यों सब अंग एक साथ नहीं बुढ़ाते—इसके कारणों का अनुसन्धान यहाँ नहीं किया जा रहा है किन्तु एक सत्य का उद्घाटन मात्र यहाँ हो रहा है। इससे कोई यह भ्रांत धारणा भी न बनाले कि सभी मनुष्यों के सभी अंग एक साथ नहीं बुढ़ाते। ऐसे महाभाग भी दिखाई पड़ते हैं जिनके अंगों का ह्रास और विकास बड़ी नियमित रीति से होता है। किन्तु यह निश्चित है कि सब मनुष्य ऐसे ही नहीं होते। मेरी आँखों के सामने से ऐसे मनुष्य गुजरे हैं जिनकी बाल्यावस्था का हास-विलास मैंने देखा किन्तु उनका यौवन न

जाने कहाँ गायब हो गया ? ऐसा लगता है जैसे उनकी बाल्यावस्था मण्डूक-प्लुति-न्याय से छलांग मार एक दम वृद्धावस्था में जा पहुँची हो और आज मैं यह देख कर हैरान हूँ कि मैंने जिन्हे बालक देखा वे मुझ से पहले ही वृद्ध कैसे हो गए ! उन लोगो को इसका पता ही नहीं कि जीवन वन में मधुमय वसन्त का पदार्पण कब और कैसे होता है ! वृद्धावस्था उनसे इस प्रकार चिपट गई है कि किसी भी प्रकार छुडाये नहीं छूटती। कहते हैं कि यौवन एक बार जाकर फिर नहीं आता और बुढापा एक बार आकर फिर नहीं जाता । किन्तु हाय रे भगवान ! यह तेरी कैसी निष्ठुरता है कि किसी-किसी के जीवन में एक बार भी यौवन न आपाये ! पास मे बैठे मेरे मित्र कह रहे हैं—क्या ऊलजलूल लिख रहे हो जी, यह हो नहीं सकता कि किसी के जीवन मे एक बार भी यौवन न आवे, असम्भव है, यह सर्वथा असम्भव है। मुझे पता नहीं, सत्य कहाँ है और उसका प्रकृत स्वरूप क्या है—स्टीवेन्सन के शब्दो में मैं तो यही कह सकता हूँ कि इस विश्व में निरपेक्ष सत्य जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, हमारे सभी तथ्य अर्द्ध सत्य मात्र हैं। जो सतह पर दिखलाई पड रहा है और जिसे मेरे चर्म चक्षु भली भाँति देख पाते हैं मैं तो उसे ही लिपिबद्ध कर रहा हूँ। बाल की खाल निकालने वालो ! तत्वान्वेषणा में तुम अपने आप को खोये रहो। मुझे तो ऐसा लगता है जैसे वर्षों की सख्या से अवस्था का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं। यदि ऐसा होता तो क्यों एक ७५ वर्ष का बूढा भी अपने को युवा अनुभव करता और क्यों २५-३० वर्ष का युवक वृद्धत्व का बोझ अपनी पीठ पर लाद कर युवावस्था की कमर तोड डालता ?

अपने को वृद्ध समझने से ही यदि वृद्धत्व आता है तो कोई क्यों अपने को वृद्ध समझे ? लेकिन मानव के साथ-साथ चिन्ता भी अपना जीवन बसर करती चलती है। पशु-पक्षी यदि हँसने नही पाते तो भूत भविष्य की चिन्ताएँ भी उन्हें विकल नहीं करती, किन्तु मनुष्य की हँसी के साथ-साथ रुदन भी लगा हुआ है, विश्वास के साथ-साथ यहाँ संशय भी हैं जो मनुष्य को विनाश की ओर लेजाता है। कहते हैं कि ईसा मसीह रोगियों के सिर पर हाथ रखकर उनका इलाज कर दिया करते थे; अपने अनुयायियों से भी वह कहा करते थे कि उपचार के समय जिस आस्था और दृढ़ विश्वास का मैं आश्रय लेता हूँ, उसीका सहारा लेकर यदि तुम भी उपचार में प्रवृत्त हो जाओ तो तुम्हें श्रद्धा की अपरिमित शक्ति का रहस्य ज्ञात हो सकता है। श्रद्धा में तो इतनी शक्ति है कि वह अचल पर्वतों को भी हिला सकती है! गीताकार ने भी श्रद्धा का जयजयकार करते हुए कहा था—"यो यच्छ्रद्धः स एव सः।" जो प्रतिमा पूजन करता है तथा ईश्वर की अटल सत्ता में विश्वास रखता है, कुछ लोगों की दृष्टि में वह पत्थर की पूजा करता है और एक मिथ्याचार तथा अन्ध-विश्वास को प्रश्रय देता है किन्तु ऐसा करने से यदि किसी के मन को शांति मिलती है तो उस शांति की सत्ता से तो इन्कार नहीं किया जा सकता। संसार में और कुछ चाहे सत्य हो या न हो; श्रद्धा अवश्य सत्य है। तब फिर पहाड़ों को चूर्चूर कर डालने वाले और आकाश को हिला देने वाले युवक! बुढ़ापे का भार पीठ पर लाद कर कुबड़े की तरह क्यों चलते हो? उतार फेंक इस कूबड़ को!

सेम्युअल स्लमान की एक कविता में कहा गया है—

"युवावस्था जीवन की कोई अवस्था विशेष नहीं, यह एक मनोदशा मात्र है, भावों और विचारों की एक प्रवृत्ति है, मन-बह-लाव की एक अद्भुत शक्ति है, मानसिक शैथिल्य पर उत्साह और उमंग की विजय है। केवल बहुत वर्षों तक जीते रहने से ही कोई मनुष्य बुड्ढा नहीं हो जाता, मानसिक अवसाद के कारण ही लोग बुड्ढे होते हैं। ज्यों-ज्यों अधिक समय बीतता जाता है, चमड़ी पर झुर्रियाँ पड़ने लगती हैं किन्तु उमंग और जोश के निकल जाने पर तो दिल तक में झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। चिन्ता, संदेह, निराशा, आशङ्का, भय, शक्कीपन—ये सब लम्बे-लम्बे साल है जो सिर को झुका देते हैं और बढ़ते हुए दिल के जोश को खाक़ कर देते हैं।

चाहे ७० साल का हो या १६ साल का, प्रत्येक मनुष्य के दिल में आश्चर्य और विस्मय से भरा प्रेम, सितारों या सितारों जैसी चीज़ों के लिये मोहब्बत, दिल की हर हरकत में, हृदय के प्रत्येक स्पन्दन में उत्सुकता भरी प्रतीक्षा, बच्चों की सी भूख, शौक़, मौज और जिन्दगी के खेल होते रहते हैं।

आप उतने ही जवान हैं जितनी आपकी आस्था और निष्ठा, उतने ही बुड्ढे हैं जितना आपका शक और संशय, उतने ही जवान हैं जितना आपका आत्म-विश्वास, उतने ही बुड्ढे हैं जितना आपका डर, उतने ही जवान हैं जितनी आपकी आशा-आकांक्षाएँ और उतने ही बुड्ढे हैं जितनी आपकी अवसाद भरी निराशाएँ।

जब तक आपका चित्त सौन्दर्य, उल्लास, उत्साह, उमंग और समृद्धि का संदेश मानव, प्रकृति और भगवान् से ग्रहण करता रहेगा, तब तक आप जवान हैं। जब आपके दिल के तार सब ढीले हो

जाते हैं और जब आपकी चेतना पर निराशा और क्लैव्य की पपड़ी जम जाती है, जब आपका जीवन जड़वत् और निरा यांत्रिक बन जाता है तब आप वास्तव में बुड्ढे हो जाते हैं और उस हालत में भगवान् ही आपकी रक्षा करे!

: चार :

प्रतिभा

अनेक ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति इस दुनिया मे उत्पन्न होते हैं जिनकी असाधारण शक्तियों को देख कर दाँतो तले अँगुली दबानी पडती है । प्रसिद्ध अर्थ शास्त्री जान स्टुअर्ट मिल के लिये कहा जाता है कि तीन वर्ष की अवस्था में उसने ग्रीक भाषा सीखी, सात वर्ष की अवस्था में प्लेटो का अध्ययन किया और आठ वर्ष की अवस्था में लेटिन, बीज-गणित तथा रेखा-गणित का अभ्यास कर डाला । जब वह ६ वर्ष से कुछ बडा हुआ, उसने रोम का इतिहास प्रस्तुत कर दिया । प्रतिभाशाली व्यक्तियो के असाधारण कार्यों का यदि उल्लेख किया जाय तो एक बृहद् मनोरजक ग्रन्थ ही बन जाय ।

प्रतिभा का असली स्वरूप क्या है, इस विषय में सभी विचारक एकमत नहीं हैं । किसी-किसी ने तो कहा है कि असीम अध्यवसाय व परिश्रम का ही दूसरा नाम प्रतिभा है, इसके विपरीत दूसरे विद्वानों का कहना है कि कोई कितना ही परिश्रम क्यों न करे, वह रवीन्द्र अथवा शेक्सपियर तब तक नहीं बन सकता जब तक उसमें प्रतिभा नाम की कोई वस्तु बीज रूप में न हो । प्रतिभाशाली स्वयं अपने मार्ग को प्रशस्त करता है, 'सायरसिंह सपूत' लीक-लीक नहीं चलते, वे स्वय अपनी लीक छोड जाते हैं—दूसरों

से उधार ली हुई प्रकाश रश्मियों से अन्धकार को नहीं भेदते अपने ही अन्तर की ज्योति के प्रकाश में वे अँधेरे को भेदते हुए चलते हैं। प्रतिभाशाली व्यक्तियों का अपने जीवन-काल में विरोध भी बहुत होता है। प्रतिभाशाली के स्वर में ही कवि भवभूति ने कहा था—

उत्पत्स्यते हि मम कोऽपि समानधर्मा।
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥

अर्थात् मेरा भी समानधर्मा कोई पैदा होगा क्योंकि पृथ्वी विपुल है और समय की कोई सीमा नहीं है।

बहुत से प्रतिभाशाली व्यक्ति आने वाली शताब्दियों के गवाक्ष खोल कर उनमें से झाँकने की क्षमता रखते हैं—अपने समय से बहुत आगे होने के कारण उनके जीवन काल में तो उनका विरोध होता है किन्तु भविष्य उनकी स्मृति में श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

प्रतिभाशाली व्यक्ति नियमों के बन्धन में नहीं बँधता। इसीलिये किसी-किसी ने तो कहा है कि वह और तो सब कुछ कर सकता है, केवल अपनी रोज़ी नहीं कमा सकता।

जिन विद्वानों ने प्रतिभा के सम्बन्ध में वैज्ञानिक प्रयोग किये हैं, उनका कहना है कि प्रतिभा मुख्यतः दो बातों पर निर्भर है—(१) वंशानुक्रम और (२) सम्यक् वातावरण। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हर एक प्रतिभाशाली पिता के अनिवार्यतः प्रतिभाशाली सन्तान ही पैदा होती है। बल्कि व्यावहारिक जगत में देखा तो यह जाता है कि अनेक अवस्थाओं में प्रतिभाशाली पिता के प्रतिभाशाली पुत्र उत्पन्न नहीं होते। वंशानुक्रम का विषय वास्तव में बड़ा जटिल है जिसकी विस्तृत विवेचना का स्थल यहाँ नहीं।

किन्तु एक बात हम अवश्य कहेंगे। यह मान लेने पर भी कि प्रतिभा एक दिव्य शक्ति है, उसके अभ्यास और विकास की आवश्यकता तो बनी ही रहती है। जमीन चाहे जितनी उपजाऊ क्यों न हो, यदि वह जोती नहीं जायगी तो कहाँ से फल देगी? इसी प्रकार प्रतिभा को भी सम्यक् विकास के लिये अनुकूल क्षेत्र मिलना ही चाहिये। अनुकूल अवसर न मिलने के कारण बहुत से कालिदासों और मिल्टनों की प्रतिभा उनके साथ ही विलीन हो गई होगी।

बहुत से लोगों का विचार है कि प्रतिभाशाली अध्यवसायी नहीं होते। प्रतिभा की शक्ति के कारण उनके काम अनायास सम्पन्न हो जाते हैं किन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि मे तो कोई काम अनायास नहीं हो जाता। जो काम स्वतः होता हुआ जान पडता है, उसके पीछे भी अभ्यास का बल रहता है जो चाहे स्थूल रूप मे हमे दिखलाई न पड़े किन्तु केवल इसी कारण हम उसकी सत्ता को अस्वीकृत नहीं कर सकते। और फिर यह निष्कर्ष निकालना भी निरापद नहीं कि प्रतिभाशाली व्यक्ति परिश्रमी नहीं होते। रवीन्द्र को ही लीजिये। लोग कह देते हैं—वे विलासी थे। किन्तु यह सत्य से कोसों दूर है। उन्होंने जितना लिखा, उसकी नकल करने में ही जीवन के ४०-५० वर्ष लग जायँ! प्रतिदिन नियम् से ३।। बजे उठ कर वे ध्यान मग्न होते, फिर आलोक होने पर दैनिक कृत्यों से निवृत्त हो कुछ खा-पीकर काम में लग जाते, दुपहर के भोजन के बाद फिर काम में जुट जाते। गुरुदेव बहुत अध्ययनशील थे, कवि होते हुए भी विशेषत वे वैज्ञानिक पुस्तकें पढते। वसु तथा आइन्स्टाइन उनके मित्रो मे से थे। भाषा-विज्ञान और दर्शन-शास्त्र

सम्बन्धी पुस्तक पढ़ने में उनकी विशेष रुचि थी। शान्ति-निकेतन की १४,००० चुनी हुई पुस्तकों पर उन्होंने पेंसिल से नोट लिख रखे हैं। चुनी हुई पुस्तकें ही वे अपने पास रखते थे, कूड़ा करकट इकट्ठा न होने देते थे। मृत्यु समय तक वे पढ़ते रहे। कहा करते थे—विदा की अन्तिम रजनी में जैसे नायक-नायिका की बात समाप्त ही नहीं होती, उसी तरह मैं भी जाने के पहले सब कुछ जान जाना चाहता हूँ।

डाक्टर माइल्स ने ३०० प्रतिभाशाली व्यक्तियों के सम्बन्ध में तथ्यों का संग्रह किया और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उन सब की वंशपरम्परा उत्कृष्ट कोटि की थी, उनके माता-पिता प्रायः सभी अच्छे बुद्धिमान थे। उक्त डाक्टर महोदय के मतानुसार सभी प्रतिभाशाली व्यक्ति दयालु, विश्वसनीय, कर्तव्यपरायण, अध्यवसायी, कार्य करने में शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से चुस्त, संकोचशील और शीतल स्वभाव के थे जिनमें आनन्दोपभोग की अत्यधिक व्यग्रता नहीं देखी गई। किन्तु सच तो यह है कि प्रतिभा को सामान्य विशेषताओं के घेरे में आबद्ध नहीं किया जा सकता। प्रतिभाशाली व्यक्तियों में जहाँ सामान्यताएँ मिलती हैं, वहाँ असामान्यताएँ भी कम नहीं देखी जातीं। प्रतिभाशाली के लिए तो यही कहा जा सकता है कि वह एक अद्भुत और विलक्षण प्राणी होता है, इस लोक में रहता हुआ भी इस लोक से न्यारा—कभी-कभी एक दम अलौकिक!

: पांच :

मृत्यु-तत्त्व

भगवान् से कोई पूछे कि वह चाहे जब और चाहे कहीं मृत्यु को जाने की इजाजत क्यों दे देता है ? वृद्ध के पास मृत्यु आ जाय तो कोई अनहोनी बात नहीं, और फिर यदि वृद्ध के पास मृत्यु न जाय तो और जाय भी कहाँ ? किन्तु मृत्यु की एक बात बहुत खटकती है, वह युवकों के पास भी क्यों बिना बुलाये पहुँच जाती है ? सच मानिये मुझे मृत्यु का पता ही नहीं था, मृत्यु क्या चीज होती है, किन्तु जब मेरी प्रियतमा ससार को छोड कर चल बसी, मृत्युके भयकर हाथो ने जब उसको मुझ से छीन लिया तो मैं "का वार्ता" के इस उत्तर को मन ही मन दोहराने लगा—

अस्मिन्महामोहमये कटाहे
सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन
मासर्तु दर्वी परिघट्टनेन
भूतानि कालः पचतीति वार्ता ॥

यक्ष ने युधष्ठिर से प्रश्न किया था कि हे युधिष्ठिर ! बतलाओ खबर क्या है ? युधष्ठिर ने उत्तर दिया था-ससार रूपी महामोह का कड़ाह है, सूर्य की आँच है, रात दिन का ईंधन जल रहा है, सब प्राणी इस कड़ाह में पड़े हैं और महीने और ऋतुओं की करछुल से घोंट कर काल उन प्राणियो को पका रहा है, बस यही एक मात्र खबर है !

सब ऋतुयें अपने-अपने समय पर आती हैं किन्तु हे भगवान् ! तुम्हारी सृष्टि में यह कैसा नियम है कि इस मृत्यु की कोई ऋतु नहीं, कोई मौसम नहीं—इसका कोई समय निर्धारित नहीं, इसका कोई पल निश्चित नहीं—यह चाहे जब आ जाय !

बहुत से मनुष्य तो मृत्यु के नाम मात्र से ही भयभीत हो उठते हैं, मृत्यु की चर्चा को वह एक प्रकार का अपशकुन समझते हैं—वे सोचने लगते हैं कि कहीं अपनी चर्चा से आकृष्ट होकर मृत्यु वहाँ पहुँच न जाय !

मृत्यु क्या सचमुच ऐसी भयंकर चीज है ? ऐसे वीर पुरुष इस धरा-धाम पर अवतीर्ण हुए हैं जिन्होंने मृत्यु के साथ खिलवाड किया है। राजस्थान में वीर योद्धा जब देश और धर्म की रक्षा के लिये अपने को निछावर कर देता था तो वहाँ मरण-महोत्सव मनाया जाता था। राजस्थान के इस मरण-त्यौहार की कल्पना तो एक दम रोमांचक जान पडती है। 'भारतीय आत्मा' ने तो 'मरण-त्यौहार' पर सुन्दर कविता भी लिखी है। अंग्रेजी साहित्य के दार्शनिक कवि ब्राउनिंग ने अपनी स्त्री की मृत्यु के बाद एक कविता लिखी थी जिसमें मृत्यु को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था हे मृत्यु ! जब कभी तू आये, मेरे सामने से आना ताकि मैं तुमसे लोहा ले सकूं; तुम्हारी विभीषिकाओं से खेल सकूं—मेरा जीवन तो संघर्ष का जीवन रहा है, मृत्यु के रूप में एक संघर्ष और सही !

ऐसे दार्शनिक इस दुनिया में हुए हैं जो मृत्यु के समय भी विचलित नहीं हुए। महात्मा सुकरात को इस बात का पता था कि दूसरे दिन उनको विष का प्याला दे दिया जायगा किन्तु फिर भी

उन्हें गहरी नींद में सोते देख कर उनके मित्र क्राइटो के आश्चर्य का ठिकाना न रहा था। 'अनलहक-अनलहक' की रट लगाने वाला मंसूर खलीफा द्वारा फाँसी पर चढ़ा दिया गया था। जब उसे फासी पर चढ़ाया गया तो हज़ारों लोग इस दृश्य को देखने के लिए इकट्ठे हुए। दर्शकों मे से किसी ने पूछा—मसूर, प्रेम क्या है ? मसूर ने उत्तर दिया—। 'आज देखोगे, कल देखोगे, परसो देखोगे।' उसका अभिप्राय यह था कि आज मुझे फाँसी पर चढा दिया जायगा, कल मेरा शरीर भस्म कर दिया जायगा, परसो कोई चिन्ह भी बाकी नहीं रहेगा। कुछ दुष्ट मनुष्यों ने मसूर की ओर पत्थर भी फेंके, किन्तु फिर भी वह शान्ति धारण किये रहा, क्षुब्ध या उत्तेजित न हुआ। जब उसके हाथ काटे जाने लगे तब उसने हँसते हुए कहा—मेरे भौतिक हाथों का काट डालना सहज है, किन्तु किसमें शक्ति है जो मेरे आध्यात्मिक हाथो को काट सके ? जब उसके पैर काटे जाने लगे तो वह बोल उठा—इन पैरो से तो मैंने पृथ्वी पर भ्रमण किया है, किन्तु मेरे आध्यात्मिक पैर भी हैं जिनके द्वारा मैं स्वर्गलोक में भ्रमण करूँगा। किसी मे सामर्थ्य हो तो वह आकर मेरे आध्यात्मिक पैरो को काटे।

जब मसूर की आँखें निकाल ली गईं तो बहुत से मनुष्यों का हृदय द्रवीभूत हो उठा, हृदय-स्रोत नेत्रों के द्वारा अश्रुओ क रूप में उमड पडा। जब उसकी जाभ काटी जानी लगी तो मसूर ने कहा—कुछ क्षणों तक धैर्य धारण करो, मैं दो शब्द निवेदन करना चाहता हूँ। तब अपने मुँह को ऊँचा कर उसने कहा—हे परमेश्वर ! इन लोगो ने जितनी यन्त्रणाये मुझे दी हैं, उनके लिये इन्हे दण्ड न देना, इन्हें सुखों से वंचित न करना। इस प्रकार हँसते-हँसते यह

सूफी सन्त मृत्यु के चिरप्रेमालिंगन में आबद्ध हो गया था।

बहुत से दार्शनिकों की दृष्टि में तो मृत्यु विभु का वरदान है। जो वस्तु इतनी प्राकृतिक हो, इतनी सार्वभौम और इतनी सार्वजनिक हो वह कभी अनिष्टकारिणी हो ही नहीं सकती। कालिदास कह गये हैं —'मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः।' और फिर इस मृत्यु में समानता भी कितनी है! कहते हैं कि एकबार डाइवोगेनेस नाम का दार्शनिक किसी मृत दास की हड्डियों को बड़े ध्यान से देख रहा था। सिकन्दर ने पूछा—दार्शनिक, इन हड्डियों में तुम क्या ढूँढ रहे हो? दार्शनिक ने उत्तर दिया—तुम्हारे पिता की हड्डियों और उसके दासों की हड्डियों में मुझे कोई अन्तर नहीं मिल रहा! उसी की तलाश में मैं था!

कितना महत्त्व है इस मृत्यु का! प्लेटो की दृष्टि में तो मौत पर मनन करना ही तत्त्व ज्ञान की परिभाषा है, और शोपनहार ने कहा है कि मृत्यु को देखकर ही मनुष्य के हृदय में पहले पहल तत्त्व चिन्तन की वृत्ति सजग हुई थी। रवीन्द्र जैसे कवियों ने मृत्यु के दर्शन शास्त्र पर बहुत कुछ लिखा है, सच कहा जाय तो, रवीन्द्र के मृत्यु सम्बन्धी विचारों से स्वयं मृत्यु भी गौरवान्वित हुई है। मरण जीवन का अन्त नहीं है। वह तो माता के एक स्तन को छोड़ कर दूसरे स्तन के लगने के समान है। मृत्यु को चीर कर भी जीवन का स्रोत बहता रहता है। जीवन और जन्म एक ही वस्तु नहीं है, जीवन व्यापक है तो जन्म है व्याप्य। जीवन के शाश्वत प्रवाह में न जाने कितने जन्म-मरण बहते रहते हैं। जन्म और मरण तो वास्तव में जीवन के एक अध्याय का अथ और इतिमात्र हैं।

किसी वस्तु का दांया बांया जैसे एक ही वस्तु के दो पक्ष है, उसी प्रकार जन्म और मरण को भी समझना चाहिए। मरण जीवन का अन्त नहीं, क्योकि मरण के बाद तो जीवन नये सिरे से प्रारम्भ होता है। इसलिये मृत्यु किसी भी हालत में डरने की वस्तु नहीं। कल्याण मार्ग का पथिक मौत से भी नहीं डरता, और फिर तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा अमर है, और अमर मानव मृत्यु मे क्या डरे? इसीलिये तो विश्वास के स्वर में कबीर ने कहा था :—

"हम न मरिहैं मरिहै संसारा।
हमको मिला जिलावन हारा॥"

———

: छः :

हीन-भावना

आत्म-विश्वास की कमी ही हीन भावनाओं को जन्म देती है। परीक्षणों द्वारा बहुत से मनोवैज्ञानिक इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि प्रौढ़ों में से करीब ७५ प्रतिशत व्यक्ति ऐसे मिल जाते हैं जिनको अपनी शक्ति मे विश्वास नहीं, जिनको इस बात का भी पता नहीं कि वे हीन-भावना के शिकार हो रहे हैं। आधुनिक मनोविज्ञान जब यह कहता है कि बहुत से मनुष्यों मे चेतन मन की अपेक्षा अवचेतन मन का अंश अधिक है और अवचेतन मन की अपेक्षा अचेतन मन का अंश अधिक है तो साधारण पाठक चौंक उठता है। क्या इस का अभिप्राय यह है कि हम में से बहुत से ऐसे हैं जो अपने ही मन के बारे में सब से कम जानते हैं? यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं कि दूसरे हमारे बारे मे अपेक्षाकृत अधिक जानकारी रखते हैं और हमे अपना ही पता न हो। मनो-विश्लेषण के आचार्य मानसिक रोगी के अचेतन मन का ज्ञान कराकर उसे रोग से मुक्ति दिला देते हैं। आत्म-ज्ञान हीनता सबसे बड़ा रोग है जिससे अन्य अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। हमारी कुंठित इच्छायें ही अचेतन मन मे संचित होकर हीन-भावना जैसी ग्रन्थियों को जन्म देती हैं। आकांक्षाओं को अगर तुष्टि का स्वाभाविक मार्ग मिलता रहे तो जीवन के स्वाभाविक प्रवाह मे इनने

रोड़े इकट्ठे न हों। बन्द तालाब का पानी सड़ने लगता है, अनाविल रहने के लिये पानी को उन्मुक्त हो कर बहने की आवश्यकता है।

हीन—भावना का उद्गम प्रायः बाल्यावस्था मे ही देखा जाता है। ज्ञान की कमी, चातुर्य का अभाव, अग विकार आदि अनेक कारणो से बालक हीन-भाव का अनुभव करने लगता है। कभी-कभी विकृतियो के दूर हो जाने पर हीन-भावना भी विदा हो जाती है। किन्तु कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी अपने को अयोग्य ही समझते हैं। स्कूलो का निरीक्षण करते हुए मैंने देखा है कि अनेक अवसरों पर योग्य अध्यापक भी काँप उठा है। वह यह समझने ही नहीं पाता कि इन्स्पेक्टर ही सर्वज्ञ नहीं होता। ज्ञान के अभाव में भयभीत होना समझ में आ सकता है, किन्तु सुयोग्य होते हुये भी लड़खड़ा जाना आत्म-हीनता का ही द्योतक है।

आत्म-हीनता के इस रोग पर कैसे विजय पायी जाय ? यह प्रश्न सहज ही उठाया जा सकता है। सब से पहली आवश्यकता तो इस बात की है कि हम अपनी शक्तियों की नाप-जोख करें, किन्तु ऐसा करने मे एक बात का खतरा रह सकता है। कभी-कभी सर्वोत्कृष्ट व्यक्ति से अपनी तुलना कर हम अपने में गुणो के अभाव का अनुभव करने लगते हैं। किन्तु ऐसा करना अपने प्रति अन्याय करना है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक काम में सर्वोत्कृष्ट नहीं हो सकता। यदि हम औसत व्यक्ति से अपनी तुलना करें तो बहुत सी ऐसी बातें मिल सकती हैं जिनमे हम उसे मात कर सकते हैं। कम से कम इतना तो आश्वासन हमे मिल ही सकता है कि हम बहुतों से उत्कृष्ट हैं। इसके विपरीत ऐसी बातें

भी निकल सकती हैं जिनमें औसत व्यक्ति हम से बढ़ा हुआ हो। ऐसी अवस्था मे हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी कमियो को अपनी अपूर्णताओं को समझे और उनको दूर करने का प्रयत्न करें।

बहुत अशों मे मनुष्य स्वय ही अपना शत्रु तथा अपना मित्र होता है। 'मुझमे अमुक कमी है, मुझमे अमुक हीनता है," निरन्तर इसकी रट लगाये रहने से तो वह अपना आत्म-विश्वास सर्वथा खो बैठता है। किन्तु यदि उसकी प्रसुप्त आत्म-चेतना जागृत हो उठे, उसको यह भान होने लगे कि वह भी कुछ कर सकता है तो इसमे कोई संदेह नहीं कि प्रगति के पथ पर वह एक कदम आगे बढ़ गया है। हनुमान के लिये तो यह प्रसिद्ध है कि उनको बल का स्मरण कराने पर उनमे सैकड़ों गुना बल आ जाता था। मनु के यह कहने पर

किन्तु जीवन कितना निरुपाय !
लिया है देख नहीं संदेह,
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का यह कल्पित गेह।"

श्रद्धा ने जो उत्तर दिया था वह आज भी स्फूर्तिदायक सिद्ध हो सकता है:—

और यह क्या तुम सुनते नहीं
विधाता का मंगल वरदान—
'शक्तिशाली हो, विजयी बनो'
विश्व में गूंज रहा जय गान।
डरो मत अरे अमृत संतान

× × ×

प्रकृति के यौवन का शृङ्गार
करेंगे कभी न बासी फूल। (कामायनी)

हीन-भावना से मुक्त होने के लिये आवश्यक है कि मनुष्य का मस्तिष्क अच्छी तरह काम करने लगे। वह भले बुरे मे अन्तर मालूम करे और अपनी मनोवृतियों में सामजस्य स्थापित कर सके।

सुन्दर स्वस्थ शरीर भी हीन-भाव को दूर करने में सहायक होता है। शारीरिक सौंदर्य भले न हो, स्वास्थ्य-गत सौंदर्य तो हम में होना ही चाहिये और सच्चे अर्थ में तो स्वास्थ्य ही सौंदर्य है। हीन-भाव की पूर्ति के लिये अनेक उपाय काम में लाये जाते हैं। आँखों में फूला पड जाने पर चश्मा लगाना, होंठ कट जाने पर मूँछ बढाना, ठुड्डी पर कुष्ठ के चिन्ह प्रकट हो जाने पर दाढी बढवाना—सभी क्षतिपूर्ति के प्रयास हैं।

हीन-भाव को दूर करने के लिये एक आवश्यक उपाय यह भी है कि जो मनुष्य आत्म-विश्वास की कमी के कारण कभी किसी काम में सफल हुआ ही नहीं, उसके लिये ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करनी चाहिये जिसमें सफलता निश्चित हो जाय। एक वार सफलता के स्वाद का अनुभव कर लेने पर तो वह अनायास दूसरी सफलता के लिये उद्यत हो जाता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि ऐसा काम उठाया जाय जो व्यावहारिक हो, उसके वल-बूते का हो जिससे उसे निराशा का सामना न करना पडे। कोरे आदर्शवाद की परिणति प्रायः निराशा मे देखी जाती है। यथार्थ का बल न मिलने पर आदर्शवाद पगु रह जाता है।

हीन-भाव को दूर करने की रामबाण औषध यह है कि हम अपनी सीमाओं को समझें। आसमान के तारे तोडना हमारे लिये सभव न हो तो इस पृथ्वी पर ही दौड-धूप कर हम अपनी हविस

पूरी कर लें; असंभव के पीछे दौड़कर तो हम अपने रोग की वृद्धि ही करेंगे। दूसरा हम से विशिष्ट है, होगा, इससे हमें क्या ? सामर्थ्य हो तो हम भी आत्म-विकास कर उच्चासन पर पहुँच जायँ। यदि यह संभव न हो तो अन्य किसी उपयुक्त क्षेत्र को चुन कर हम अपनी विशेषताओं का परिचय दें। केवल मन की जाली फेंक कर चाँद को धरती पर तो नहीं उतारा जा सकता। और फिर एक मनुष्य के पास हर एक वस्तु आयेगी भी कहाँ से और कैसे ?

श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त ने ठीक ही कहा है—

'कमल तुम्हारा दिन है,
और कुमुद यामिनी तुम्हारी है।
कोई हताश क्यों हो ?
आती सब की समान वारी है।
धन्य कुमुद, दिन जिसके,
धन्य कमल रात साथ में जिसके,
दिन और रात दोनों,
होते हैं हाय' हाथ में किसके ?'

अमृत-संतान मानव को अवसाद कभी शोभा नहीं देता। हार मान कर बैठ जाना मनुष्य के लिये सबसे बड़ी लज्जा की बात है। भारतीय ऋषियों, दार्शनिकों, और सन्तों तथा चंडीदास, पंत आदि कवियों ने मानव की महत्ता का उद्घोष किया है।

'चौदह भुवन जे तर उपराहीं।
ते सब मानुष के घट माहीं।'

कह कर जायसी ने भी मानव का ही जय-जयकार किया है मानव नामधारी होकर भी जो क्षुद्र हृदय-दौर्बल्य का परिचय दे तथा आत्म-हीनता का अनुभव करे, वह कैसा मानव है ?

: सात :

मानसिक स्वास्थ्य

आधुनिक मनोविज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि मानसिक स्वास्थ्य शारीरिक स्वास्थ्य की अपेक्षा भी अधिक आवश्यक है। बहुत सी शारीरिक बीमारियां मानसिक कारणों से उत्पन्न होती हैं। अजीर्ण तथा पेट एवं आँतों सम्बन्धी बहुत से रोग चिन्ता जन्य होते हैं। उग्र भावावेश की हालत में पाचन क्रिया अपना काम बिलकुल बन्द कर देती है। चिन्तित रहने वाले व्यक्ति अधिकांश में कोष्ठबद्धता के शिकार देखे गये हैं।

यदि कोई ऐसा व्यक्ति हो जो अपने साध्य पर पहुंच चुका हो, जहाँ जीवन की विषम समस्याओं के साथ संघर्ष करने के लिए कोई प्रेरणा अवशिष्ट न रह गई हो, वहाँ जीवन बहुत ही नीरस हो जायगा। यदि हम ज्ञान के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुके हों तो फिर हम न तो किसी प्रकार के विचार विमर्शों में लगेंगे, न किसी प्रकार के अन्वेषण अथवा अनुसन्धान में ही प्रवृत्त होंगे, विज्ञान का अन्त हो जायगा, समस्त सृष्टि ही एक कहानी की आवृत्तिमात्र के अतिरिक्त और कुछ न रहेगी। धर्म और कला जिनके प्रयोगात्मक अनुभवों से हमे आनन्द की उपलब्धि होती है, अब अर्थ हीन व्यापार मात्र रह जायँगे। संघर्षों से छुटकारा पाने में आनन्द नहीं है, आनन्द है संघर्षों पर विजय प्राप्त करने में। यदि कोई

मनुष्य समाज से अलग होकर, एकान्तवास करने लगे तो वह बहुत सी समाजिक त्रुटियों से बच जायगा किन्तु उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए जिस सामाजिक साहचर्य की आवश्यकता उसे थी, उससे वह वंचित ही रह जायगा। मानसिक स्वास्थ्य के दूषित होने का कारण हमारी अयोग्यता उतनी नहीं है जितना है जीवन के प्रति हमारा गलत दृष्टिकोण।

भय और क्रोध दो ऐसे मनोवेग हैं जो हमारे मानसिक स्वास्थ्य को आघात पहुँचाते हैं। सुरक्षा की भावना को जब क्षति पहुँचती है तभी भय उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ भूत के भय पर विचार करें। आत्म विश्वास की कमी के कारण भूत का कल्पित भय भी हमारे स्नायु दौर्बल्य का कारण बन जाता है। उन्माद तथा हिस्टीरिया के रोग भी मानसिक अस्वास्थ्य के ही द्योतक हैं। और इस मानसिक अस्वास्थ्य का मूल कारण है शक्ति होते हुए भी अपने को शक्तिहीन समझना। मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह मानसिक प्रसन्नता की आदत डाले। इसे ही गीताकार ने प्रसाद के नाम से अभिहित किया है।

"प्रसादे सर्व दुःखाना हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।"

बुद्धि के विचलित होने से ही मानसिक स्वास्थ्य दूषित होता है और बुद्धि विचलित तभी होती है जब मनुष्य प्रसन्नचित्त रहना बन्द कर देता है। मानसिक स्वास्थ्य से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से उपयोगी सूत्र गीता मे मिल जाते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश मे इस दृष्टि से भी गीता का अध्ययन किया जाना चाहिए।

दूसरे प्रधान मनोवेग क्रोध के कारण का उल्लेख करते हुए

गीता मे कहा गया है "कामात् क्रोधोभिजायते।" हमारी कामनाओं की पूर्ति के मार्ग में जब अडचनें उपस्थित होती हैं तो क्रोध उत्पन्न होता है। ऐसी अवस्था में कुछ मनुष्य तो कहने लगते हैं—जब हमारे मार्ग में इतने विघ्न उपस्थित होते हैं तो इन कार्यों के करने का फल ही क्या है ? कुछ मनुष्य जीवन के प्रति बडा स्वस्थ दृष्टिकोण रखते हैं, कठिनाइयों को समझने की चेष्टा करते हैं और तदनुकूल कार्य-व्यापार में प्रवृत्त होकर जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण बनाये रहते हैं। कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो अपने कार्यमें अडचनें उपस्थित होते ही क्रुध होकर ज़मीन पर पैर पटकने लगते हैं, आकाश-पाताल एक करने की धमकियाँ देते हैं किन्तु इस प्रकार के मनुष्य स्वय अपने पर लज्जित होने के अतिरिक्त कुछ कर नहीं पाते।

किसके जीवन मे मुश्किलें नहीं ?
कौन मुसीबतो का शिकार नहीं होता ?

किन्तु उसी का धैर्य अभिनन्दनीय है जो मुसीबतों पर विजय प्राप्त करता हुआ मानवता का जय जयकार करता चलता है।

लॉटरी में जैसे किसी को एक लाख रुपये मिल जाते हैं, वैसे अकस्मात् मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त नहीं हो जाता। मानसिक स्वास्थ्य के लिए साधना अपेक्षित है। जो मनुष्य अनासक्त होकर जीवन में काम करता है उसका मानसिक स्वास्थ्य दूषित नहीं होता। एक न्यायाधीश वर्षों तक फैसले देता रहा है। अनेक बार अपराधियों को उसने मृत्यु-दण्ड भी दिया है। आज उसी का पुत्र विचारार्थ उपस्थित है। पुत्र का अपराध ऐसा है कि उसे मृत्यु-दण्ड मिलना चाहिए किन्तु न्यायाधीश की विचार-धारा बदलने लगती

है। यह सोचना है—मृत्यु-दण्ड कोई अच्छी वस्तु नहीं क्योंकि इसमें अपराधी का कोई भला नहीं होता। अन्य अपराधियों को मृत्यु-दण्ड देते समय यदि न्यायाधीश के मन मे इस तरह के विचार उदित हुए होते तो हम न्यायाधीश की प्रशंसा ही करते किन्तु आज तो पुत्र-मोह के कारण उसका मानसिक स्वास्थ्य दूषित हो गया है—इसलिए उसकी विचार धारा ने भी दूसरा रूप धारण कर लिया है। महाभारत का युद्ध प्रारम्भ होने के पहले अनेक युद्ध अर्जुन लड चुका था और कृष्ण यदि उसे सम्बन्धियों के अतिरिक्त अन्य किसी शत्रु से युद्ध करने को कहते तो न तो अर्जुन के हाथ से गांडीव छूटता, न कँपकँपी सी पैदा होती। अर्जुन भी अपना मानसिक स्वास्थ्य खो बैठा था।

: आठ :

टैक्ट

दूसरो के भावों और विचारो को दृष्टि में रखते हुए परिस्थिति के अनुकूल ठीक समय पर यथोचित कार्य करना टैक्ट है। मालूम नहीं, हिन्दी में इस अर्थ का द्योतक सब से उपयुक्त शब्द क्या है किन्तु सुभीते के लिए इसका दूसरा नाम व्यवहार-कुशलता रखा जा सकता है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह अनेक प्रकार के व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है और एक जन समूह के व्यक्ति की हैसियत से वह भी अपना कार्य करता है। जिस समूह में भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों वाले व्यक्ति पाए जाते हों, जहाँ मत-भेद और विचार-वैषम्य प्रचुर परिमाण में पाया जाता हो, वहाँ व्यावहारिक बुद्धि के विना सफलता प्राप्त करना आसान काम नहीं है किन्तु इस प्रकार की बुद्धि भी सब मनुष्यों में नहीं पाई जाती। अनेक व्यक्ति ऐसे देखने में आते हैं जिनमें चाहे और गुण भले ही हों किन्तु जो इस गुण की कमी के कारण पद-पद पर ठोकर खाते हैं, दूसरों को अपना शत्रु बना लेते हैं, अपने विरुद्ध एक विद्रोही वातावरण पैदा कर लेते हैं और अन्त में अपना अभीष्ट सिद्ध करने में असफल होते हैं।

अपने आप को सबसे अधिक महत्त्व देना, दूसरों को चाहें जिस तरह फटकार देना, दूसरो से उपकृत होने पर कम से कम शब्दो द्वारा भी कृतज्ञता प्रकट न करना—कुछ ऐसे अवगुण हैं जिनसे व्यवहार-कुशल आदमी हमेशा बचता रहता है। कुछ मनुष्य दूसरों के सामने हरदम अपना अथवा अपने सम्बन्धियों का ही गुण-गान करते रहते हैं। वैसे तो अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना हा अच्छा नहीं समझा गया है किन्तु शायद एक मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति है कि किसी व्यक्ति-विशेष को चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो अपने ही मुख से अपनी प्रशंसा करते देख लोग उसके बड़प्पन में संदेह करने लगते हैं। सौजन्य की दृष्टि से ही नहीं किन्तु व्यवहार कुशल मनुष्य शायद इसी कारण आत्म-प्रशंसा के अवगुण से सदा दूर रहते हैं।

दूसरे की बातों को ध्यानपूर्वक सुनना, सुन्दर एवं आकर्षक ढंग से दूसरे की कमज़ोरी बतला देना जिस से सुनने वाला बिगड न उठे बल्कि त्रुटि-निर्देश करने वाले व्यक्ति के प्रति उसके हृदय में श्रद्धा एवं सम्मान के भाव जागृत हों तथा अन्य ऐसे ही अनेक ढङ्ग हैं जिन से मनुष्य अपनी व्यावहारिक बुद्धि की सहायता से सर्वप्रिय हो सकता है।

आत्म-सम्मान की भावना को हम स्वाभाविक कह सकते हैं। जहाँ स्वामी अपने अनुचरों के साथ बड़े अपमान से पेश आते हैं वहाँ नौकर उस अपमान को पी जाते हैं, यह तो सच है किन्तु अपने अपमानित होने की बात उनको भी लगती बहुत है और यदि अपमान कभी चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो नौकर मालिक से अन्तिम नमस्कार करते हैं और किसी दूसरे स्वामी को

कभी किसी प्रकार की फटकार सुनने को न मिले तो यह स्वाभाविक है कि वह अधिकाधिक लापरवाह हो जायगा और उसकी उन्नति का मार्ग बन्द हो जायगा। इसलिये टैक्टफुल आदमी यदि किसी समय कुसुम से भी कोमल है तो किसी समय वज्र से भी कठोर है।

कुछ व्यक्तियों में ऐसी आदत पाई जाती है कि वे दूसरों के सुझावों को हमेशा बुरा बताने की और उनको असफल करने की चेष्टा करते हैं। उनका यह ख्याल रहता है कि ऐसा करने से समाज में उनकी पूछ बहुत अधिक होगी। संभव है, किसी अव्यवस्थित समाज मे उनकी कुछ समय तक पूछ भले ही हो जाय किन्तु स्थायी रूप से ऐसे व्यक्तियों के लिये सम्मान प्राप्त करना कठिन है। इसी कारण व्यवहार-कुशल व्यक्ति सामाजिक सहयोग की ओर दृष्टि रखता है और रचनात्मक कार्य करने मे सफल होता है।

जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, मनुष्य पूर्ण नहीं है, उसमें गुणों के साथ-साथ दोष भी पाये जाते हैं। इसलिए यह असम्भव नहीं कि दूसरे व्यक्ति उसकी समालोचना करें। किन्तु व्यवहार-कुशल व्यक्ति अपने प्रति की गई समालोचना से अधीर नहीं होता, वह समालोचना के लिये भी अपने कान खुले रखता है और दूसरों के भावों और विचारो के प्रति सहनशील होता है। इसी सहनशीलता की नीति का अनुसरण कर अकबर ने मुगल साम्राज्य का निर्माण किया और व्यावहारिक बुद्धि का अभाव होने से औरङ्गज़ेब ने उसको छिन्न-भिन्न कर डाला।

कभी-कभी किसी सच्चे सिद्धान्त की रक्षा के लिये ज़िद पर अडे रहना उपयोगी हो सकता है, पर समूह की रक्षा के लिये कभी कभी व्यक्तिगत आग्रह का बलिदान भी करना पडता है

किन्तु दुराग्रह हर हालत में त्याज्य है। कुछ व्यक्ति उनसे सरासर भूल हो जाने पर भी अपने आपको सच्चा साबित करने के लिये अनेक प्रकार की उल्टी-सुल्टी दलीलें देते रहते हैं यदि अपने हृदय पर हाथ रख कर वे आदमी इस बात को सोचें तो उनको मालूम हो जायगा कि वे ग़लत रास्ते पर हैं। समाज में मनुष्य अपनी भूल स्वीकार करना पसंद नहीं करता, इस डर से कि कहीं लोग उस को छोटा न समझ लें। किन्तु व्यवहार-कुशल व्यक्ति कभी-कभी अपनी भूलों को भी दूसरे व्यक्तियों के सामने स्वीकार कर लेता है और उसके बड़प्पन में किसी प्रकार की कमी न होकर वृद्धि ही होती है। वास्तव में बात यह है कि अपनी भूलों को ठीक सिद्ध करने के लिये हमेशा जिदते रहने से फिर वैसी ही आदत पड़ जाती है जो मुश्किल से छूटती है। किन्तु 'टैक्टफुल' आदमी जहाँ अपनी भूलों को स्वीकार करता है, वहाँ वह आगे के लिये भूल न करने की प्रतिज्ञा कर सावधान भी हो जाता है।

यह प्रश्न उठ सकता है कि 'टैक्ट' और 'सत्य' का क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न का सीधा उत्तर दे सकना तो संभव नहीं है किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि टैक्टफुल आदमी के लिये हमेशा सचाई से काम लेना मुश्किल अवश्य है पर असंभव नहीं है जैसा विश्ववंद्य महात्मा गाँधी के उदाहरण से स्पष्ट मालूम होता है। सत्य के अद्वितीय पुजारी होने के साथ-साथ ही उन में टैक्ट इतना जबरदस्त था कि वे विरोधी से विरोधी वातावरण में से भी अछूते निकल आते थे; इतना ही नहीं, अपना दृष्टिकोण, अपने विचार वे लोगों के सामने इस ढंग से रखते थे कि लोग उनको

अपनाने के अलावा और कुछ कर ही नहीं सकते थे।

टैक्ट का गुण क्या परमात्मा की देन है अथवा यह अनुभव से प्राप्त होता है? इसमें तो सन्देह नहीं कि जो आदमी वर्षों तक सामूहिक जीवन बिता चुकता है वह दूसरों के साथ रहने की कला में निपुण हो जाता है। इस अर्थ में हम टैक्ट को अनुभव का फल कह सकते हैं। किन्तु इसके विपरीत किसी व्यक्ति-विशेष में यह गुण असाधारण रूप से पाया जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि टैक्ट भी पैतृक संस्कार, वातावरण, स्वभाव, शिक्षा-दीक्षा आदि सभी का सम्मिलित फल है और इस एक गुण में अनेक प्रकार के गुण शामिल हैं।

कितनी भी विषम परिस्थिति क्यों न हो, 'टैक्टफुल' आदमी कभी भी अधीर न होगा। वह तो शांतिपूर्वक कठिनाइयों में से होकर येन-केन प्रकारेण मार्ग निकालने की कोशिश करेगा।

लौकिक दृष्टि से घर पर आये हुए किसी भी व्यक्ति का चाहे वह शत्रु ही क्यों न हो स्वागत करना, अपने सम्पर्क में आने वाले किसी व्यक्ति के बीमार हो जाने पर सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिये उससे पूछताछ करना, अपने किसी मित्र के सम्बन्धी की मृत्यु हो जाने पर पत्र द्वारा समवेदना प्रकट करना अथवा किसी हर्ष के मौके पर उसको बधाई देना आदि अनेक ऐसी बातें हैं जो टैक्ट में शामिल हैं। बाह्य प्रदर्शन की दृष्टि से ही नहीं किन्तु उपर्युक्त बातों में व्यावहारिक उपयोगिता भी पाई जाती है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह इस व्यावहारिक बुद्धि के सग्रह के लिए जो जीवन सग्राम में सफलता प्राप्त करने के लिए इतनी उपयोगी है सतत प्रयत्न करे।

: नौ :

चेतावनी

यह बात किसी से छिपी नहीं है कि मानसिक रोगों का इलाज करने वाले मनोवैज्ञानिकों ने कितने अद्भुत काम कर दिखाये हैं। मन के सम्बन्धों में फ्रायड और उसके बाद के मनोवैज्ञानिकों ने जो खोज की है, उसके लिए समस्त संसार उनका ऋणी है। मानसिक रोगों का उपचार करनेवाले मनोवैज्ञानिकों को जिन-जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, उनमें से बहुत-सी कठिनाइयाँ ऐसी होती हैं जिनकी शुरुआत बचपन के प्रारंभिक वर्षोंमें होती है। छानबीन करने से पता चला है कि इस प्रकार के मानसिक रोगों की उत्पत्ति के निम्न लिखित कारण होते हैं—

(१) बच्चेके कोमल भावोंपर किसी प्रकारका धक्का लगना।

(२) उचित ढंगसे उसके पालन-पोषण एवं शिक्षा का प्रबन्ध न होना।

(३) उसकी सहज वृत्ति या मनोवेगों का अनुचित रीति से दबाया जाना।

यदि माता-पिता समझदार हों तो इन सब कारणों को दूर कर सकते हैं और बच्चे को मानसिक रोगों का शिकार होने से बचा सकते हैं।

बहुत से लोगों का यह खयाल है कि परमात्मा जब हमें बच्चे

देता है तो उनके पालन-पोषण आदि के सम्बन्ध मे आवश्यक जानकारी भी हमें परमात्मा की ओरसे ही मिल जाती है । यह धारणा उन मनुष्यों में अधिक पायी जाती है जो पुराने विचारो के हैं, किन्तु यह हर्ष की बात है कि आज-कल के माता-पिता इस बात को महसूस करने लगे हैं कि बच्चोंके पालन-पोषणके लिए परमात्मा की ओरसे अपने आप ही सब ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता, अब तो बच्चों की समस्याओं का विशेष अध्ययन होने लगा है और पाश्चात्य देशों में तो बिना किसी हिचकिचाहट के बच्चा पैदा होने के पहले और पीछे 'चाइल्ड क्लिनिक्स' से आवश्यक सलाह ले ली जाती है । जो माताएं मुफ़्त में सलाह नहीं लेना चाहतीं उनके लिए 'बेबी क्लब' खुले हुए हैं जहाँ कुछ चन्दा देने पर क्लब के डाक्टरों और परिचारिकाओंसे अच्छी सलाह मिल सकती है । बच्चों की समस्याओं का अध्ययन अभी कुछ वर्षों से ही होने लगा है । अब हम यह समझने लगे हैं कि जटिल, हठी और तथाकथित नटखट बालक इसलिए जटिल, हठी और शरारती नहीं हो जाते कि वे पैदा ही ऐसे होते हैं, किन्तु इसका मुख्य कारण यह है कि वे बुरे वातावरणके शिकार होते हैं, उनका पालन-पोषण वैज्ञानिक ढग से नहीं होने पाता अथवा उनके स्वभावको आज़ादी से विकसित होने देनेके बजाय संकीर्ण कर दिया जाता है अथवा उनको अनुचित ढंग से बनने-बिगड़ने दिया जाता है । इस प्रकारके अधूरे और अनुचित विकासके लिए बच्चे स्वयं किसी भी हालतमें उत्तरदायी नहीं हैं । नीचे के उदाहरणों से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी—

एक ऐसा बच्चा था जिसको बचपनसे ही अस्थि-पंजर से डर

लगा करता था। एक दिन उसके पिता ने उसके भय को दूर करने के उद्देश्य से कहा—'अस्थि-पंजरसे डरनेकी क्या बात है ? यह तो हर एक मनुष्यके शरीर में होना है । अस्थि-पंजर तो तुम्हारे खुदके शरीर मे है, फिर उससे डर कैसा?" किन्तु इस से बच्चे का डर कम होने के बजाय और दश गुणा अधिक बढ़ गया । अब तो उसके दिल में एक नये डरने घर कर लिया कि जब अस्थि-पंजर उसके शरीर में ही है, तब तो वह चाहे जब बाहर निकल कर उसका अनिष्ट कर सकता है।

एक दूसरे बच्चेका हाल तो और भी अधिक दिलचस्प है। वह अभी दो-तीन वर्षका ही था और उसने बोलना शुरू ही किया था । बच्चे की नर्स उसको और तो सब प्रकारकी सुविधाएँ देती थी किन्तु उससे बोलती बिलकुल न थी । इससे बच्चेके कोमल भावोंपर बडा भारी धक्का पहुँचा । उसका सारा जीवन ही बदल गया । जब वह आधा जगा हुआ या आधा सोया हुआ-सा होता तो वह अक्षरशः उस वार्तालाप की आवृत्ति कर दिया करता था जो उसकी नर्स और किसी मनुष्यके बीच में हुआ करता था। इसको वह स्वयं तो कुछ नहीं समझता था किन्तु फोनोग्राफ के रेकार्डों की तरह उसका मस्तिष्क उस बातचीत को संचित कर लेता था । बड़े-बड़े मानसिक उपचार करने वालों से इस विषय में सलाह ली गयी । उन सबने यही कहा कि जबतक इस बातका पता न लगे कि बच्चेके कोमल भावोंपर किस प्रकारका आघात पहुँचा है, तबतक उसका इलाज होना मुश्किल है । उन मनोवैज्ञानिक इलाज करने वालोंके आदेशानुसार बेचारी अभागिनी माता उन सब वाक्यों को लिख लिया करती थी जो उस बच्चेके मुख से

देता है तो उनके पालन-पोषण आदि के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी भी हमें परमात्मा की ओरसे ही मिल जाती है । यह धारणा उन मनुष्यों में अधिक पायी जाती है जो पुराने विचारों के हैं, किन्तु यह हर्ष की बात है कि आज-कल के माता-पिता इस बात को महसूस करने लगे हैं कि बच्चोंके पालन-पोषणके लिए परमात्मा की ओरसे अपने आप ही सब ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता, अब तो बच्चों की समस्याओं का विशेष अध्ययन होने लगा है और पाश्चात्य देशो में तो बिना किसी हिचकिचाहट के बच्चा पैदा होने के पहले और पीछे 'चाइल्ड क्लिनिक्स' से आवश्यक सलाह ले ली जाती है । जो माताएं मुफ्त में सलाह नहीं लेना चाहतीं उनके लिए 'बेबी क्लब' खुले हुए हैं जहाँ कुछ चन्दा देने पर क्लब के डाक्टरों और परिचारिकाओंसे अच्छी सलाह मिल सकती है । बच्चों की समस्याओं का अध्ययन अभी कुछ वर्षों से ही होने लगा है । अब हम यह समझने लगे हैं कि जटिल, हठी और तथाकथित नटखट बालक इसलिए जटिल, हठी और शरारती नहीं हो जाते कि वे पैदा ही ऐसे होते हैं, किन्तु इसका मुख्य कारण यह है कि वे बुरे वातावरणके शिकर होते हैं, उनका पालन-पोषण वैज्ञानिक ढंग से नहीं होने पाता अथवा उनके स्वभावको आज़ादी से विकसित होने देनेके बजाय संकीर्ण कर दिया जाता है अथवा उनको अनुचित ढंग से बनने-बिगडने दिया जाता है। इस प्रकारके अधूरे और अनुचित विकासके लिए बच्चे स्वयं किसी भी हालतमें उत्तरदायी नहीं हैं । नीचे के उदाहरणों से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी—

एक ऐसा बच्चा था जिसको बचपनसे ही अस्थि-पंजर से डर

लगा करता था। एक दिन उसके पिता ने उसके भय को दूर करने के उद्देश्य से कहा—'अस्थि-पंजरसे डरनेकी क्या बात है ? यह तो हर एक मनुष्यके शरीर में होता है । अस्थि-पंजर तो तुम्हारे खुदके शरीर में है, फिर उससे डर कैसा ?" किन्तु इस से बच्चे का डर कम होने के बजाय और दश गुणा अधिक बढ़ गया । अब तो उसके दिल मे एक नये डरने घर कर लिया कि जब अस्थि-पंजर उसके शरीर मे ही है, तब तो वह चाहे जब बाहर निकल कर उसका अनिष्ट कर सकता है।

एक दूसरे बच्चेका हाल तो और भी अधिक दिलचस्प है। वह अभी दो-तीन वर्षका ही था और उसने बोलना शुरू ही किया था । बच्चे की नर्स उसको और तो सब प्रकारकी सुविधाएँ देती थी किन्तु उससे बोलती बिलकुल न थी । इससे बच्चेके कोमल भावोंपर बडा भारी धक्का पहुँचा । उसका सारा जीवन ही बदल गया । जब वह आधा जगा हुआ या आधा सोया हुआ-सा होता तो वह अक्षरश: उस वार्तालाप की आवृत्ति कर दिया करता था जो उसकी नर्स और किसी मनुष्यके बीच में हुआ करता था। इसको वह स्वयं तो कुछ नहीं समझता था किन्तु फोनोग्राफ के रेकार्डों की तरह उसका मस्तिष्क उस बातचीत को संचित कर लेता था । बडे-बड़े मानसिक उपचार करने वालों से इस विषय में सलाह ली गयी । उन सबने यही कहा कि जबतक इस बातका पता न लगे कि बच्चेके कोमल भावोंपर किस प्रकारका आघात पहुँचा है, तबतक उसका इलाज होना मुश्किल है। उन मनोवैज्ञानिक इलाज करने वालोंके आदेशानुसार बेचारी अभागिनी माता उन सब वाक्यों को लिख लिया करती थी जो उस बच्चेके मुख से

निकला करते थे। किन्तु उस बच्चेके रोग का असली निदान कोई न कर सका। फल यह हुआ कि कुछ वर्ष बाद उस बच्चे को मिरगी के रोगने धर दबाया और अपने १२वें वर्ष मे ही वह ससार से चल बसा।

इसलिए यह आवश्यक जान पडता है कि माता-पिता बच्चोंके पालन-पोषण पर विशेष ध्यान दें। उनकी जरा सी असावधानीसे बच्चेको इस तरह का रोग लग जाता है जो कालन्तर मे जाकर असाध्य हो जाता है। ऊपरके उदाहरणमे दिये हुए बच्चेसे यदि वह नर्स बोलती रहती तो उस बच्चेके सुकुमार और कोमल भावों-पर इस तरहका धक्का न पहुँचता और बारह वर्षकी छोटी अवस्थामें ही वह कालका ग्रास न बनता। बचपनसे ही बच्चे मे सचाई तथा आत्म-विश्वास जैसी अच्छी आदतें डाली जानी चाहिए जिससे वह भविष्यमें पूर्ण मनुष्य बन सके क्योकि 'बच्चा ही तो मनुष्य का पिता है।

: दस :

मन की करतूत

मन तो सभी को मिला है, किन्तु मन-मन में भी कितना अन्तर है! कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं, जो विपत्तियों से भयभीत नहीं होते, प्रलोभन जिन्हें वशीभूत नहीं कर पाते और मृत्यु भी जिन के मानसिक समत्व पर आघात नहीं कर पाती। इसके विरुद्ध असख्य मनुष्य ऐसे हैं, जो बात-की-बात मे घबरा जाते हैं और मृत्यु के पहले ही न जाने कितनी बार मर चुकते हैं! जैसे जमीन की खेती होती है, वैसे ही मन की भी खेती हुआ करती है। जमीन कितनी भी उपजाऊ क्यों न हो, जोती जाने पर ही वह फलवती होती है—उसी प्रकार अच्छे संस्कारों की खेती के बिना मन भी किसी काम का नहीं रह जाता।

व्याधि से आधि भयङ्कर होती है। सामान्यतः शारीरिक पीड़ा के कारण लोग आत्म-हत्या करते नहीं देखे जाते और मानसिक व्यथाओं के कारण आत्म-हत्या करने वालों की कमी नहीं। इससे जान पड़ता है कि शारीरिक स्वास्थ्य की अपेक्षा भी मानसिक स्वास्थ्य कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है और सच तो यह है कि शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य दोनों का अभिन्न सम्बन्ध है।

इस अपूर्ण संसार मे शायद ही कोई ऐसा मनुष्य मिलता हो, जिसका मन पूर्णतः स्वस्थ हो। जूलियस सीजर एक क्लेओपेट्रा

के प्रेम मे अपने साम्राज्य को भूल गया था। बादशाह डेविड के लिए प्रसिद्ध है कि वह कभी तो उदार बन जाता और कभी निर्दय, कभी धर्मात्मा और कभी पापात्मा। कभी तो ईश्वरोपासना में तल्लीन हो जाता और कभी पाप-कर्म में प्रवृत्ति हो जाता। कुछ समय बाद फिर पश्चात्ताप की कविताएँ लिखता और ध्यानमग्न हो जाता। बादशाह सोलन तो ज्ञान का अवतार माना जाता है, किन्तु वह अपने पुत्र के लिए कुछ नहीं कर सका। कन्फ्यूसियस से एक बार कोई सज्जन मिलने के लिए आये। दार्शनिक ने किसी से कहलवा दिया कि वह घर पर नहीं हैं; किन्तु आगन्तुक सज्जन ज्यों ही जाने को हुए, ऊपर के कमरे में बैठे हुए कन्फ्यूसीयस ने गाना शुरू कर दिया जिससे उक्त सज्जन को पता लग जाय कि कन्फ्यूसियस घर पर ही है। मिल्टन के लिए तो प्रसिद्ध ही है कि जब अपनी १७ वर्षीय स्त्री से उनकी नहीं पट सकी तो आपने तलाक पर एक पुस्तक ही लिख डाली। लोगों ने जब इसका विरोध किया, तो कवि ने वाक्-स्वातंत्र्य का जोरों से समर्थन करना शुरू कर दिया।

× × ×

एक आचार्य अपने शिष्य को उपदेश दे रहे थे—

"कंचन तजना सहज है, सहज तिया का नेह।
मान बडाई ईर्ष्या, दुर्लभ तजना येह॥"

बडे-बड़े भिक्षुक और साधु-सन्यासी भी यह चाहते हैं कि उमडते हुए जन-समुद्र के सामने अपने भाषण दें, जिससे वे विश्व-विख्यात हो जायँ। यशो-लिप्सा बड़ों-बडों से नहीं छूटती—महापु-

रुपों मे भी यह दुर्बलता रह ही जाती है। शिष्य ने कहा—आचार्य ! इस समस्त भूमण्डल में आप ही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने यशो-लिप्सा पर विजयप्राप्त करली है ! शिष्य की बात सुन कर आचार्य भेदभरी हँसी हँसने लगे ।

कहते हैं भर्तृहरि ने जब वैराग्य लिया, तो उन्होंने मिट्टी के तकिये बना लिये। एक स्त्री ने दूसरी से कहा सन्यासी की सुख-लिप्सा अब भी नहीं छूटी, वैराग्य ले लिया तो क्या हुआ ? भर्तृहरि के कान मे स्त्री की आवाज पड गई। मिट्टी का तकिया मिट्टी में मिला दिया । दूसरे दिन वही स्त्री जब उधर से निकली, तो स्त्री ने कहा—संन्यासी तो हो गया, किन्तु अब भी दूसरे की बात कितनी चुभती है ! मैंने मन ही मन कहा—"अब मैं तोहि जान्यो ससार !"

× × ×

मन की करतूतों के लिए भी नेति नेति कहना पड़ता है।



ग्यारह :

कालो भूपस्य कारणम्

पुराने जमाने मे राजा युधिष्ठिर के यह पूछने पर कि काल राजा का कारण है या राजा काल का कारण है, भीष्म पितामह ने असंदिग्ध स्वर में कहा था कि राजा ही काल का कारण है। 'राजा कालस्य कारणम्' के स्थान में मैं उक्त शीर्षक द्वारा संशय उत्पन्न कर रहा हूँ, विज्ञ पाठक इसका अर्थ यह न समझें कि महाभारत के प्रति मेरी आस्था कम हो गई है, मैं केवल एक भिन्न दृष्टिकोण से इस प्रश्न पर विचार करना चाहता हूँ।

पौराणिक युग में वेण राजा को पदच्युत कर ऋषियों ने उसका काम तमाम कर डाला, इंग्लैण्ड का चार्ल्स प्रथम फाँसी पर चढ़ा दिया गया, फ्राँस और रूस की क्रान्ति के समय राजा लुई और जार की जो दुर्गति हुई वह किस इतिहासज्ञ से छिपी है ? इन राजाओं के सुख-स्वप्न मिट्टी में मिल गए, वे कहीं के न रहे। परिस्थितियों के दानवाकार उदर में ये शासक विलीन हो गये। तो इसका अर्थ क्या यह है कि परिस्थितियाँ ही सब कुछ हैं ? क्या लेनिन और गाँधी परिस्थितियों की ही उपज हैं ? अथवा इसके विपरीत क्या यह कहा जा सकता है कि महापुरुष परिस्थितियों को भी बदल डालते हैं ? एक महाराणा प्रताप, एक जोधपुर के चन्द्रसेन और एक सिरोही के राव सुरताण मुगल-युग में परिस्थि-

तियों से आजन्म संघर्ष कर अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को अमर कर गये।

आज का समाजवादी दर्शन इस प्रश्न पर गहराई से विचार करता है। समाजवादी स्वतन्त्र व्यक्तित्व की अपेक्षा परिस्थितियों को अधिक महत्त्व देते हैं। लोग कहते हैं कि लेनिन के बिना रूसी क्रान्ति न होती और बिस्मार्क यदि बचपन में ही मर गये होते तो आधुनिक यूरोप का विकास कठिन होता। कार्ल मार्क्स पैदा न होते तो इतिहास की यह आर्थिक व्याख्या कौन करता ? गांधी का यदि जन्म न होता तो अहिंसात्मक असहयोग का क्रियात्मक रूप विश्व के समक्ष कौन रखता ? हो सकता है कि इन महापुरुषों के स्थान में परिस्थितियों के गर्भ से अन्य महापुरुष पैदा हो जाते किन्तु परिस्थितियाँ महापुरुषों को अवश्य जन्म देतीं, इस मे कोई शक नहीं है। गीता में जहाँ धर्म-ग्लानि और परिणाम स्वरूप अवतार की चर्चा की गई है, वह भी परिस्थितियों की महत्ता का उद्घोष है। गांधीजी ने १९०८ में 'हिन्द स्वराज्य' में लिखा था कि किसी भी हालत मे वे यह नहीं चाहते कि भारत में मिलों की संख्या मे वृद्धि हो। भारत मे मिल खोल कर कपड़े बुनने के बजाय वे मैनचेस्टर से ही कपड़ा खरीदना अच्छा समझते थे। क्योंकि उस हालत में देश की आर्थिक हानि ही होगी, सदाचार तो कायम रहेगा। किन्तु १९४४ मे 'अग्रवाल योजना' में व्यक्त उनके विचारों से ज्ञान पड़ता है कि वे किसी हद तक मिलों की उपयोगिता स्वीकार करते हैं। माउण्टबेटन योजना को गांधी तथा जवाहर आदि कांग्रेस के नेता परिस्थिति की विवशता के कारण ही स्वीकार कर सके थे, कुछ हार्दिक उल्लास से नहीं।

किन्तु ऊपर के विवेचन से एक भ्रांत-धारणा हो सकती है जिसका निराकरण यहाँ आवश्यक है । यह सच है कि व्यक्ति के निर्माण में बहुत कुछ परिस्थितियों का हाथ रहता है किन्तु इसके साथ-साथ यह भी सच है कि व्यक्ति भी परिस्थितियों को बदलता है । महान् व्यक्तित्व परिस्थितियों के हाथ में केवल कठपुतली नहीं है । वस्तुतः समाज-शास्त्र द्वारा प्रतिपादित क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धान्त सर्वत्र अपना काम करता हुआ दिखलाई पडता है । परिस्थितियाँ यदि व्यक्ति को प्रभावित करती हैं तो एक विशिष्ट व्यक्ति भी परिस्थितियों पर अपना प्रभाव डालता है । और थोडी देर के लिए यह भी सोचए कि जिसे हम परिस्थिति कहते हैं उसका असली स्वरूप क्या है ? परिस्थितियाँ भी तो असख्य व्यक्तियों के विभिन्न समयों में किये हुए कार्यकलापों का ही सयुक्त फल है । इसलिए एक व्यक्ति जब किसी समाज का नेतृत्व धारण करता है तो वह स्वयं एक परिस्थिति बन जाता है ।

'यथा राजा तथा प्रजा' केवल भारतवर्ष की ही लोकोक्ति नहीं, दुनिया की अन्य भाषाओं में भी इस आशय को व्यक्त करने वाली लोकोक्तियाँ अनायास मिल जाती हैं । किन्तु आज के स्वातन्त्र्य-शील युग मे 'यथा प्रजा तथा राजा' की लोकोक्ति के आसार क्या नहीं दिखलाई पड़ रहे हैं ? निरपेक्ष सत्य जैसी कोई वस्तु शायद इस ससार में है ही नहीं ; हमारे सभी सत्य अर्द्ध सत्य मात्र हैं । 'राजा कालस्य कारणम्' में सचाई है क्योंकि बहुत से राजा युग-प्रवर्तक हो गये हैं, 'कालो भूपस्य कारणम्' मे भी सचाई है क्योंकि समय के पल्टा खाने पर, काल-चक्र के परिवर्तन पर बडे-बड़े सत्ता-

धारी धूल मे विलीन हो गये हैं। इन दोनों आपाततः विरुद्ध दिखलाई पडने वाले सूत्रों को सच्चा बतलाता हुआ भी मैं वदतो-व्याघात का दोषी नहीं; क्योंकि क्रिया-प्रतिक्रिया के सिद्धांत से दोनों का समन्वय हो जाता है।

: बारहवाँ :

चतुर्वर्ग

भोजन, वस्त्र और निवास-स्थान अर्थ-शास्त्रियों की दृष्टि मे मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति अर्थ-साध्य है। किन्तु इतने से ही मनुष्य के मन की परितुष्टि नहीं होती, वह विलास की ओर उन्मुख होता है, उसे 'काम' का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। कहते हैं हिन्दुओं के ब्रह्मा जब सृष्टि निर्माण मे सलग्न हुए तो जितने ठोस पदार्थ उनके पास थे वे सब पुरुष के निर्माण में ही खर्च हो गये। इसलिए उन्होंने कमल से कोमलता, वज्र से कठोरता, चन्द्रमा से शीतलता, सूर्य से दाहकता, कोकिल से उसका स्वर, शुक से 'टेंटें', काक से धूर्त्तता, सारस से वफादारी आदि लेकर स्त्री का निर्माण किया और उसे पुरुष को सौंप दिया। कुछ समय बाद पुरुष ने आकर ब्रह्मा से कहा कि जो स्त्री आपने मुझे दी है, इसे मैं अपने पास नहीं रख सकता, यह तो रात दिन बातें करती रहती है, बिना कारण हँसती-रोती है। पुरुष उसे छोड़कर चला गया किन्तु एक सप्ताह बाद आकर ब्रह्मा से कहने लगा—स्त्री की स्मृति मुझे बेचैन कर रही है; या तो आप स्मृति मुझसे छीन लीजिये या स्त्री वापिस कर दीजिये! ब्रह्मा ने स्त्री वापिस कर दी। फिर कुछ समय बाद पुरुष आया और बोला—भगवन चाहे मुझे इस स्त्री से सुख मिलता हो किन्तु यह निश्चित है कि इससे

मुझे सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक है । ब्रह्मा ने कहा—चाहे तुम्हें दुख हो या सुख हो, मैं तुम्हे कहे देता हूँ कि तुम इसके बिना भी नहीं रह सकते । इससे स्पष्ट है कि 'काम' से प्रेरित होकर मनुष्य का मन नारी की ओर आकर्षित होता है । 'काम' स्वतः इतना बुरा नहीं है किन्तु काम धर्म से सम्बन्द्ध होना चाहिए। धर्म से अविरुद्ध काम को तो भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अपना ही रूप कहा है ।*

आज के इस बुद्धिवादी युग मे बुद्धि के अनेक आश्चर्यजनक चमत्कार देखने में आते हैं । परमाणु-बम का आविष्कार मनुष्य की प्रौढ़ बुद्धि का ही निदर्शन है । किन्तु परमाणु-बम का प्रयोग जन सहार में ही अब तक किया गया है । आज के बुद्धिवाद की भी सबसे बडी त्रुटि यही है कि वह धर्म से अपना संबन्ध विच्छिन्न करता चला जा रहा है, इसीलिए दया, निजत्व, सहानुभूति आदि गुणो के स्थान में मनुष्य पाशविक बर्बरता का अनुसरण कर रहा है जो बड़ा घातक है ।

जो मनुष्य अपने ही स्वार्थों की पूर्ति करता रहता है, वह संकीर्णता का परिचय देता है । मनुष्य की आत्मा का असली गुण संकीर्णता नहीं, विभुता अथवा सर्वव्यापकता है । प्रत्येक मनुष्य के जीवन मे कोई न कोई तो ऐसा अवसर आ ही जाता है जब वह पर-हित का कोई काम कर देता है और प्रसन्नता का अनुभव करता है । ऐसा करके मनुष्य अपने असली स्वरूप का परिचय देता है । सच्चा आनन्द तो वस्तुतः आत्म-प्रसार मे ही है । राष्ट्र और धर्म के लिए बलिदान हो जाने वाले मनुष्य जो हँसते-

---

*धर्माविरुद्धः कामोऽहं लोकेषु भरतर्षभ ।

हँसते अपना प्राण दे देते हैं उसका रहस्य भी यही है, वे समस्त राष्ट्र और धर्म के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। संकीर्णता से ऊपर उठकर पर-हित में ही आनन्द का अनुभव करना सच्ची मोक्ष दशा है। 'नाऽल्पे सुखमस्ति, भूमा वैसुखम्' 'आत्मौपम्येन भूतेषु यः पश्यति स पश्यति' आदि उक्तियों का भी यही रहस्य है।

भारतीय शास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जिन चार पुरुषार्थों का उल्लेख किया गया है उनमें मनुष्य की सभी एषणाओं का समावेश हो जाता है। ऊपर के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

अर्थ का सबन्ध है शरीर से, धर्म का संबन्ध है बुद्धि से, काम का सबन्ध है मन से, मोक्ष का संबन्ध है लोक-हित से।

: तेरहवाँ :

पंच कोश

अन्न के बिना मनुष्य का काम नहीं चलता किन्तु वह केवल अन्न से ही नहीं जीता। अन्न प्राणों को बनाये रखता है किन्तु जाते हुए प्राणों को अन्न रोक नहीं सकता। इसलिए अन्न की अपेक्षा प्राण महत्त्वपूर्ण है। अन्न को यदि जड पदार्थ के अर्थ में लें तब हम आधुनिक प्रकृतिवादियों के सिद्धान्तानुसार यह भी कह सकते हैं कि प्राण विकास के क्रम मे जड भूत के बाद की अवस्था है किन्तु मन प्राण से भी अधिक महत्वपूर्ण है। विकास के क्रम में भी हम देखते हैं कि मनुष्य का मन अन्य जीवधारियों की अपेक्षा बहुत उन्नत है। मनुष्य की दृष्टि केवल वर्तमान पर ही नहीं रहती, वह भूत काल से भी प्रेरणा ग्रहण करता है और भविष्य के भी सुन्दर स्वप्न देखता है। योगी लोग मन की सहायता से प्राणों को रोकते, प्राणायाम करते भी देखे जाते हैं। इसलिए भी प्राण की अपेक्षा मन का महत्त्व स्पष्ट ही समझा जा सकता है किन्तु मनुष्य जब मनमानी करने लगता है तब अनिष्टकारी परिणामों से बचने के लिए उसे बुद्धि की शरण लेना आवश्यक हो जाता है किन्तु बुद्धि से ऊपर भी कोई वस्तु है क्या ? गीता में कहा गया है कि यो बुद्धेः परतस्तु सः" अर्थात जो बुद्धि के परे है वह तो वही है। उसे कोई क्या कह कर समझावे ?

कामायनी मे प्रसाद कहते हैं—

"हे अनन्त रमणीय कौन तुम
यह मैं कैसे कह सकता ।
कैसे हो क्या हो ? इसका तो,
भार विचार न सह सकता ।
हे विराट हे विश्वदेव ? तुम,
कुछ हो ऐसा होता भान ।
मंद गभीर धीर स्वर संयुत,
यही कर रहा सागर गान ।।"

तैत्तिरीय उनपिषद् के ऋषि ने भी अन्न, प्राण, मन, बुद्धि वाद आनन्द का उल्लेख किया है । केवल बुद्धिमान व्यक्ति अ को तर्क जाल में फँसा लेता है, उससे हृदय को आनन्द न मिलता । छेद वाले कलश में यदि अमृत डाला जाय तो कलश अमृत ठहर नहीं सकेगा । कोरा बुद्धिवाद हमारे हृदय रूपी कर के लिए छिद्रों का काम करता है ।

"तर्क ज्ञान के छिद्र हुए थे,
हृदय हमारा भर न सका ।"

विज्ञान के क्षेत्र में निश्चय ही आधुनिक युग ने बड़ी उन्न की है किन्तु एकांत बौद्धिक विकास मानवता के लिए कल्या कारी नहीं हो सकता । बुद्धि के साथ-साथ मानवचित गुणों प्रति हमारी श्रद्धा भी बढ़नी चाहिए, तभी विश्व में सुख-श की स्थापना हो सकती है, अन्यथा नहीं ।

"वेदान्ती लोग मनुष्यों में पंच-कोशों की कल्पना करते हैं अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय । श

से उत्पन्न और अन्न ही के आधार पर रहने के कारण देह को अन्नमय कहते हैं । पच कर्मेन्द्रिय के सहित प्राण, अपान, उदान समान, व्यान-इन पांच प्राणों को प्राणमय कोष कहते हैं, जिनके साथ मिलकर देह मे सब क्रियाएँ होती हैं । श्रोत्र; चक्षु आदि पांच ज्ञानेन्द्रियों के सहित मन को मनोमय कोश कहते हैं । यही मनोमय कोश अविद्यारूप है और इसी से सांसारिक विषयों की प्रतीति होती है । पच ज्ञानेन्द्रियों के सहित बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहते हैं । यही विज्ञानमय कोश कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख आदि अहंकार विशिष्ट पुरुष के संसार का कारण है । सत्वगुण विशिष्ट परमात्मा के आवरण का नाम आनन्दमय कोश है ।"

ऊपर जिन पॉच कोशों का वर्णन किया गया है, उनमे स्थूल से सूक्ष्म होती हुई विकास की पाँच अवस्थाएँ भी देखी जा सकती हैं । पाँच कोशों के तत्व को हृदयंगम करने के लिए तैत्तिरीय उपनिषद को मनन पूर्वक पढना चाहिए ।



: चौदह :

बहुभाषिता

बाल्यावस्था से ही मैं एक ऐसे सज्जन को देख रहा हूँ जो बहुत बोलते हैं। जब मैं छोटा था तो सोचा करता था कि इनके शरीर के अन्दर बोलने का कोई यन्त्र लगा हुआ होगा, हंसी में हम लोगों ने उनका नाम भी 'बोलने की मशीन' रख लिया था। मनुष्य मौके-बेमौके क्यों असाधारण रूप से अधिक बोलने लगता है, इसके अनेक कारण हैं, किन्तु प्रस्तुत लेख में मैं इस प्रश्न पर केवल आयुर्वेद के दृष्टिकोण से विचार करना चाहता हूँ। आयुर्वेद के ग्रन्थों मे वायु के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा गया है—

दोषधातुमलादीना नेता शीघ्रः समीरण·
रजोगुणमयः सूक्ष्मो रूक्षः शीतो लघुश्चल: ।
उत्साहोच्छ्वासनिश्वासचेष्टावेगप्रवर्तनैः
सम्यग् गत्या च धातूनामिन्द्रियाणा च पाटवैः
अनुगृह्णत्यविकृतो हृदयेन्द्रियचित्तधृक् ॥

अर्थात् वायु दोषधातु और मलादिकी प्रेरक, रजोगुणात्मक, रुक्ष, शीतल, लघु और गतिशील होती है। अविकृत वायु के द्वारा उत्साह, श्वास-निश्वास, शारीरिक चेष्टा, मलमूत्रादिका वेग और प्रवर्तन, रसरक्तादि धातु और इन्द्रिय-समूहकी पटुता एवं हृदय, इन्द्रिय तथा चित्तका धारण-ये सब क्रियाएं सम्पन्न होती हैं।

हवा यद्यपि दिखलाई नहीं पडती किन्तु उसकी क्रियाके द्वारा उसके अस्तित्वका आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है । श्वास प्रश्वासकी सब क्रिया हवाके ही कारण होती रहती है । जबतक सांस है, तभी तक हम जीवित हैं, तभी तक हमारा आहार-व्यवहार शयन तथा आवागमन होता रहता है । उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन—वायुकी इन पांच प्रकारकी क्रियाओं का वर्णन शास्त्रकारोंने किया है । श्वास-प्रश्वास में वे पांचों प्रकार की क्रियाएं विद्यमान हैं । प्राण और अपानकी क्रियाएं श्वास-प्रश्वास में ही शामिल हैं नाभिमण्डलसे लेकर मस्तक और नासाग्रपर्यन्त प्राणकी ऊर्द्ध्व गति है । नाभिमण्डलसे मल द्वारतक अपान की निम्न गति है । जब अपान मलद्वार से नाभिमण्डल तक आगमन करता है, तब प्राणवायु विताडित होकर नासाग्र और मस्तक तक चली जाती है । इसी को अपान द्वारा प्राणका उत्क्षेपण कहते हैं । और प्राण जब नासाग्रसे नाभिमण्डल तक गमन करता है तब अपान विताडित होकर मलद्वार तक गमन करता है । इसी को प्राण द्वारा अपान का अवक्षेपण कहते हैं । इस उत्क्षेपण और अक्षेपण के बीच में ही आकुञ्चन और प्रसारण की क्रिया विद्यमान रहती है । जीव में जबतक श्वास-प्रश्वास चलता रहता है तभी तक आकुंचन और प्रसारण है । श्वास-प्रश्वास के रुद्ध होते ही प्राणवायु जीव-देह को छोड देती है । इसको वायुका गमन कह सकते हैं ।

स्पर्शज्ञान भी वायु की ही क्रिया है । त्वचा मे भी वायु विद्यमान है । वायुके न होने पर त्वचा की अनुभूति सम्भव नहीं । सब प्रकार की चेष्टा वायु की क्रिया है । सब प्रकार का

स्पन्दन व कम्पन वायु का ही व्यापार है। लघुता वायु का गुण है। क्षिति, जल और तेज-इन तीनों की अपेक्षा लघुत्वके कारण ही वायु का स्थान ऊँचा है। वायु गतिशील और चंचल है।

आयुर्वेद में केवल वातका नहीं, वात प्रकृतिवाले लोगों का भी वर्णन हुआ है। देखिये शास्त्रकार इस सम्बन्ध में क्या कहते हैं—

"जागरूकोऽल्पकेशश्च स्फुटिताग्निकरः कृशः।
शीघ्रगो बहुवाग् रूक्षः स्वप्ने वियति गच्छति।
एव विधः स विज्ञेयो वातप्रकृतिको नरः॥"

अर्थात् जिस मनुष्य की वातप्रकृति होती है वह जागरणशील, अल्पकेश वाला, फटे हाथ-पैर वाला, कृश, द्रुतगामी, बहुभाषी, रूक्ष-शरीर तथा स्वप्न में आकाश में उड़ने वाला होता है।

हवा रूक्ष होती है, इसलिए वातप्रकृति वाले की निद्रा अल्प होती है। रूक्षता के साथ ही वायु मे सोखने का गुण भी मिलता है। इसलिए वातप्रकृति वाले के केश भी अल्प ही होते हैं। वायु के शोषण-गुण के कारण ही जिस प्रकार मिट्टी फट जाती है उसी प्रकार वातप्रकृतिवाले के हाथ-पैर भी फटे होते हैं।

जिस व्यक्ति में वात का अंश अधिक होता है वह वायु के शोषण-गुण के कारण ही कृश होता है। चंचलता और लघुता भी वायु के विशिष्ट गुण हैं। इसलिए वातप्रकृति वाले व्यक्ति का चंचल और द्रुतगामी होना स्वाभाविक ही है। वायु में रूक्षता का गुण रहता है, इसलिए वातप्रकृति वाले का शरीर भी स्वभावतः ही रूक्ष रहता है। वायु में लघुत्व और ऊर्ध्व-गामिता के कारण ही वातप्रकृति वाला व्यक्ति आकाश में उड़ने के स्वप्न देखता है।

ऊपर के श्लोक मे वातप्रकृतिवाले व्यक्ति के लिए 'बहुवाक्' अर्थात् बहुभाषीका प्रयोग हुआ है। वायुके गुण-हलकापन और चंचलत्वके कारण वातप्रकृति वालेके लिए बहुभाषिता का गुण भी स्वाभाविक है।

यहाँ मैं केवल 'बहुभाषिता' पर बल देना चाहता हूँ। वातप्रकृतिवाला मनुष्य हवा से बात करता है, हवा बांधता है, इतना ही नहीं, वह हवा से लड़ता भी है। मनुष्य बहुभाषी क्यों बन जाता है, इसके सम्बन्ध मे मनोविज्ञान दूसरा कारण तथा कोई अन्य विज्ञान तीसरा कारण बतलायेगा किन्तु आयुर्विज्ञान ने जो बहुभाषिता का कारण बतलाया है, वह भी युक्तियुक्त है।

: पंद्रहवाँ :

सदाचार का प्रारम्भ

"वहाँ तो मनमानी हो रही है" इस प्रकार की बोलचाल की भाषा में 'मनमानी' शब्द अविवेकपूर्ण स्वेच्छाचारिता के अर्थ में प्रयुक्त होता है। तो क्या इसका यह अर्थ लगाया जाय कि मन जिसे मान लेता है वह प्रायः अविवेकपूर्ण होता है ? मन केवल चञ्चल ही नहीं, वह बडा रहस्यपूर्ण भी है और जब से अचेतन मन के रहस्यो का उद्घाटन होने लगा तब से तो न जाने कितनी आश्चर्यमयी बातें प्रकाश मे आने लगी हैं। मन सामान्यत. प्रेयस् की ओर दौड़ पड़ता है, वह श्रेयस् की ओर उन्मुख नहीं होता। भागवत में "व्यवायामिषमद्य सेवा" को जो प्राणियों की प्रवृत्ति कहा गया है, वह वस्तुत. मन की ही सामान्य प्रवृत्ति है। बहुत से सदाचारी पुरुषों ने यह स्वीकार किया है कि जागृत अवस्था में भी कभी-कभी उनके मन में इस प्रकार के कुत्सित विचार आ जाते हैं जिनकी वे स्वप्न में भी कल्पना नहीं करते थे। मन का अश्व यदि बेलगाम छोड दिया जाय तो वह जहाँ चाहे जा सकता है। मन के रथ पर सवार होकर देखिये, किस प्रकार वह एक संकल्प से हट कर दूसरे विकल्प की ओर कितनी द्रुत गति से दौड़ पडता है। सब प्रकार के विषय भोगों की ओर प्रवृत्त करने वाला

मन ही हैं; मन से उत्पन्न होने के कारण ही तो काम को मनोज कहा गया है। आलस्य, प्रमाद, लोलुपता, चचलता—ये सब मन की ही विलपताएँ हैं। जिस काम में ज़रा भी ज़ोर आता है, मन-महाराज उसे दूर ही से नमस्कार करते हैं। चारों पुरुषार्थों मे अर्थ और काम ही मन को प्रिय हैं। मन प्रत्यक्ष से प्रभावित हो जाता है, वह परिणामदर्शी नहीं होता। सूर और तुलसी जैसे महात्माओं ने भी अपने मन की भर्त्सना की है।

बहुत से मनुष्य मनमानी करना चाहते हैं किन्तु जब संगठित समाज मर्यादा के अतिक्रमण में बाधक सिद्ध होता है तो ऐसे मनुष्य अंदर ही अंदर अपने मन को रोगी बना लिया करते हैं, और रुग्ण मन जो न करे, थोड़ा है।

प्रश्न यह है कि हम मनमानी करें या बुद्धिमानी का आश्रय लें? इन्द्रियों को अपने-अपने व्यापार मे नियोजित करने वाला मन है, इसलिए मन इन्द्रियों से बड़ा है किन्तु मन पर नियंत्रण रखने वाली बुद्धि मन से भी बड़ी है।* अतः मन को बुद्धि के नियंत्रण में रखना चाहिए, बुद्धि को मन के नियंत्रण मे नहीं। 'कामायनी' में मनु (जो मन के प्रतीक हैं) बुद्धि रूपिणी इड़ा पर भी जब बलात्कार करने पर उतारू हो जाते हैं तो उससे जिस अनर्थ की सृष्टि होती है वह कामयानी के पाठकों से छिपी नहीं है।

बहुत से मनुष्य अनेक बार नियमित जीवन बिताने का संकल्प

---

* इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः परंमनः
मनसस्तु परा बुद्धियों बुद्धेः परतस्तु सः॥ गीता॥

किया करते हैं किन्तु मन पड-पद पर उनके मार्ग में बाधा पहुँचाने लगता है । प्रात काल समय पर उठने के लिए घडी जब अलार्म देती है तो मन में आता है, पाँच मिनट तो और सोये रहें और उन ५ मिनटों में दो घण्टे पूरे हो जाते हैं। कुछ दिनों तक मिठाई छोड देने का निश्चय करते हैं पर तश्तरी में अच्छे आकार की नेत्रो को ही अपनी स्वादिष्टता का आभास देने वाली मिठाई के दर्शन करते हैं तो मन मे आता है, थोडी सी चख कर तो देखलें, फिर कुछ चखने पर सोचते हैं अब रह ही कितनी गई है और अंत मे सबको गलगप्प कर जाते हैं। गाँधी जी का 'अस्वाद व्रत' तो उस समय उपहासास्पद जान पड़ता है !

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मन सामान्यत. विश्वसनीय नहीं है, उसे अभ्यास और साधना से नियन्त्रण में रखने की आवश्यकता रहती है । कभी-कभी तो मनमानी करते रहने के कारण मन की अदम्य शक्ति के सामने बुद्धि को अपनी पंगुता स्वीकार करनी पडती है । दुर्योधन की उस प्रसिद्ध उक्ति × में मन के सामने विवेक ने अपनी पराजय को स्पष्ट स्वीकार किया है । मनुष्य के जीवन में मन और बुद्धि का सघर्ष चलता रहता है । जो विवेक के निर्देश को मानने की सतत चेष्टा करते रहते हैं उनका मन बुद्धिमान हो जाता है । तुलसी के राम की निम्नांकित उक्ति में विवेक पूर्ण मन का ही स्वर सुनाई पड़ता है—

"जासु विलोकि अलौकिक शोभा,
सहज पुनीत मोर मन छोभा ।

× जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

सो सब कारन जान विधाता,
फरकहि सुभग अंग सुनु भ्राता।
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी,
जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी।"

रामचन्द्र को अपने मन का विश्वास है, वह कभी अनौचित्य की ओर प्रवृत्त नहीं हो सकता। संदेहास्पद वस्तुओं के संबन्ध मे सत्पुरुषों के अतःकरण की प्रवृत्तियाँ ही प्रमाणभूत होती हैं। इससे स्पष्ट है कि अनवरत साधना के परिणामस्वरूप मनुष्य का मन विवेकानुयायी होकर सत् से ही प्रेम करने लगता है, और मन जब सत् से प्रेम करने लगता है तभी उस वस्तु का प्रारम्भ होता है जिसे हम सदाचार कहते हैं। सदाचार और शिष्टाचार पर्याय शब्द नहीं हैं। बहुत से मनुष्य आज कल छद्म शिष्टाचार का प्रदर्शन करते हुए भी मूलतः असदाचारी होते हैं। मन जब विवेकपूर्ण बातों में रस लेने लगता है तभी सात्विक भावनाएँ उदित होती हैं। किन्तु मन का विवेकपूर्ण बातों मे रस लेना कोई सरल काम नहीं। बहुधा मन बुद्धि को अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करता रहता है। मन की प्रबलता के कारण बुद्धि भी असहाय होकर मन की हाँ में हाँ मिलाने लगती है, यह स्थिति अवांछनीय है। किन्तु यदि किसी साधक ने निरंतर विवेकपूर्ण जीवन बिताया हो तो विपत्ति के समय मे उसका विवेक अवश्य उसका साथ देगा। जीवन्मुक्त के सम्बन्ध में कहा जाता है कि प्रारब्ध कर्मों के अतिरिक्त उसके सब कर्म ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते हैं। और अनवरत सदभ्यास के परिणामस्वरूप वह कभी भी कुपथ पर पाँव नहीं रख सकता।

कठोपनिषद् में कहा गया है कि परमात्मा ने मनुष्य की प्रवृत्तियों को वहिर्मुखी बनाया है, अंतर्मुखी नहीं। इसलिए सामान्यत: अधिकाश मनुष्य प्रत्यक्ष से प्रभावित होकर मन के आदेश पर ही जीवन बसर करते चलते हैं । सच तो यह है कि सदाचार साधना का फल है ; साधना मे सरलता से मन नहीं लगता, इसलिए उसके लिए अभ्यास की अत्यन्त आवश्यकता है । वाछनीय तो यह है कि मन सदाचार में रस लेने लगे। ऐसा होने पर कुण्ठित इच्छाओं के परिणाम स्वरूप न तो मन रुग्ण ही हो पायगा और विवेक से नियंत्रित होने पर न उसे मनमानी का ही अवसर मिलेगा। मनमानी जहाँ उच्छृङ्खलता की ओर ले जाती है, वहाँ बुद्धिमानी सदाचार की ओर सदाचार में भी आनन्द है किन्तु उसका रसास्वाद कभी तो कोई करे।

: सोलह :

भाषा का चमत्कार

डार्विन से किसी ने पूछा कि आपने अपने जीवन के कौन से वर्षों मे सब से अधिक ज्ञान प्राप्त किया है ? डार्विन ने उत्तर दिया—"अपने जीवन के पहले तीन वर्षों मे।" इस उत्तर को सुन कर चौंकने की आवश्यकता नहीं क्योंकि पहले तीन वर्षों में मनुष्य उस वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेता है जिसने संसार की काया पलट दी है और वह वस्तु है भाषा। पहले वर्ष मे बच्चा केवल चीखता-चिल्लाता है, हँसता है अथवा रोता है। पेट भरा है तो हँसता है, पेट खाली है तो रोता है। दूसरे वर्ष मे वह तुतलाने लगता है, हाथ के इशारे से वस्तुओं का निर्देश भी करता है। तीसरे वर्ष में वह बोलने लगता है जिसके सीखने मे हमारे पूर्वजों को न जाने कितने वर्ष लगे होंगे।

बच्चा जब संसार में आता है तो वह ध्वनि यन्त्र तो लेकर आता है किन्तु भाषा लेकर नहीं आता। पैदा होने के साथ-साथ जैसे बच्चा हाथ, पाँव, कान, नाक, आँख आदि इन्द्रियों को लेकर आता है, उसी तरह वह भाषा को लेकर नहीं आता; हाँ, भाषा की संभावनायें उसमें अवश्य रहती हैं। यदि वह भाषा भी साथ ही लाया होता तो दुनिया के सभी बच्चे एक ही भाषा बोलते। भाषा-वैज्ञानिकों ने बच्चों की भाषा समस्या के सम्बन्ध में अनेक प्रयोग

किये हैं जिनसे स्पष्ट प्रतीत होताहै कि भाषा तो एक सामाजिक संस्था है। यदि सामाजिक सभाषण का लाभ बच्चे को न मिले तो वह बोलना कभी सीख ही न सके।

हम यह जानने की करें कि बच्चा बोलना कैसे सीखता है। वह जब एक व्यक्ति अथवा क्रिया को बराबर देखता है तो उसके मन में एक प्रकार का संस्कार बनने लगता है। अपनी माता के सबसे अधिक सम्पर्क में वह आता है। वह देखता है कि जो उसे दूध पिलाती है लाड-प्यार करती है, सुलाती है, उसको लोग 'माता' के नाम से पुकारते हैं। इसी तरह 'पीना' 'खाना' आदि कार्य व्यापारों को जब वह बारबार देखता है तो उसके मन में हर एक क्रिया के प्रति एक-एक प्रकार का सामान्य भाव बन जाता है। खाने का जो कार्य व्यापार है, उसे दूसरे लोग बार-बार जब उसके सामने 'खाना' शब्द द्वारा प्रकट करते हैं तब इस क्रिया के प्रति उसके मन में एक प्रकार का सामान्य भाव बन जाता है। ज्यों-ज्यों बच्चे का विकास होता है, त्यों-त्यों वह इन सामान्य भावो में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने लग जाता है और बोलना सीख जाता है। जेस्पर्सन नामक सुप्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक ने कुछ उदाहरण बच्चों की भाषा के सम्बन्ध में दिये हैं जो यहाँ मनोरंजक और उपयोगी समझ कर दिये जा रहे हैं :—

(१) एक बच्चे से किसी ने कहा—"यू आर फोर इयर्स ओल्ड," You are 4 years old बच्चे ने उत्तर दिया "आइ एम थ्री ईयर्स न्यू," I am 3 years new

(२) एक बच्चे ने सुना—"इटस् टू हौट इन दी रूम," It's too hot in the room उसने इस पर कहा—"इट्स थ्री हौट

इन दी रूम," It's three hot in the room.

(३) किसीने बच्चे की प्रशंसा मे कहा You are a good boy. यू आर ए गुड वाय, एक वार माता ने बच्चे को जब मिठाई खिलाई तो उसने अपनी माता से कहा—'यू आर ए गुड व्वाय मदर !' You are a good boy, mother.

एक बच्चे को भेड़िये के साथ रखा गया तो वह भेड़िये की तरह ही अव्यक्त ध्वनियां करने लगा दूसरे को जैसे बोलते हुए सुनता है, बच्चा उसी का अनुकरण करने लगता है ।

यहाँ पर एक और प्रश्न पर विचार करें। बच्चा पहले पहल पापा, मामा, बाबा आदि शब्दों का ही उच्चारण करना क्यों जल्दी सीख जाता है ? पुराने संस्कृत के पंडित कहते हैं कि पापा का अर्थ होता है रक्षा करने वाला । इसलिए बच्चा 'पापा' 'पापा' कहता है । क्योंकि 'पापा' रक्षा करने वाला होता है । किन्तु आज कल संस्कृत के पंडित भी इस प्रकार की कोई बात कहें तो उसकी हँसी उड़ाई जाती है । असली बात यह है कि 'पापा' आदि शब्द बच्चों की देन है। पर इसका क्या कारण है कि बच्चा 'पापा' आदि शब्दों का पहले उच्चारण करता है और आसानी से उच्चारण कर लेता है ?

इन सब बातों का विचार भाषाविज्ञान करता है। हो सकता है कि बोलने की क्रिया में जब वह माता के होंठ को हिलते हुए देखता है तो वह भी उसकी हरकतों का अनुकरण करने लगता है । सही कारण शायद यही है कि दूध पीने, स्तन चूसने में बच्चे ने जो होंठों से काम लिया है, वही 'पापा' आदि शब्दों के उच्चारण मे भी आवश्यक होता है । पवर्ग के सब वर्ण होंठों से ही उच्चरित

होते हैं। इसलिये होठों के अभ्यासवश इन शब्दों के उच्चारण में उसे बड़ी सुविधा रहती होगी।

कुछ शब्दो का अध्ययन भी बडा मनोरंजक होता है। बायकाट, बायकाट हम सभी चिल्लाते हैं किन्तु कितने व्यक्तियों को पता है कि १८ वीं शताब्दी में बायकाट नामक एक व्यक्ति के साथ सम्बन्ध विच्छेद कर दिया गया था जिससे बायकाट शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में रूढ हो गया है। इसी तरह 'बनियान ट्री, (Banıyan tree) को लीजिए। बनिये अथवा व्यापारी जिस पेड के नीचे बैठा करते थे, उस पेड को बनियान का नाम दिया गया। बनियान अर्थात् बनियों से सम्बन्ध रखने वाला। आर्य से जैसे Aryan बनता है, उसी तरह बनिया से बना 'बनियान'। शब्दों का भी अपना इतिहास होता है जिस पर भाषा-विज्ञान प्रकाश डालता है। लडाई के समय में ही कितने शब्द प्रचलित हो जाते हैं। 'क्विसलिंग' 'फिफ्थ कालम' सभी शब्दों का अपना अपना इतिहास है। Hımalayan blunder हरिजन आदि अनेक शब्द महात्मा गाधी की देन हैं।

कभी-कभी दूसरी भाषाओं से आये हुए शब्दों को लेकर बहुत से निष्कर्ष निकाले जाते हैं। कहते हैं कि सस्कृत में 'रोटी' और 'तवा' के लिये कोई पर्याय शब्द नहीं मिलता। पाणिनि ने भी चावल का तो स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है, किन्तु रोटी का नहीं। इससे कुछ विद्वानों का अनुमान है कि आर्य लोग चावल खाते थे, गेहू नहीं। तवे की उनको आवश्यकता नहीं होती थी। किसी भाषा में एक शब्द की बहुलता भी संस्कृति पर प्रकाश

डालने मे सहायक होती है। हमारे यहाँ जिस प्रकार विष्णु-सहस्र नाम है, उसी प्रकार अरबी भाषा मे उष्ट्र-सहस्र नाम है । अरब मरुस्थल मे ऊंट के लिए हजार नाम हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं, राजस्थान में भी ऊंट, घोड़ा, तलवार, युद्ध आदि के सैकड़ों पर्याय शब्द मिल जाते हैं।

: सत्तरह :

नैतिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण

ई० सन् १५०० के लगभग अर्वाचीन यूरोप का रूप प्रकट हुआ। नैतिकता में लोगों की श्रद्धा घटने लगी। पाशविक शक्ति ही सत्य और असत्य को तोलनेके लिए तराजू बनी। इस नये दृष्टि-कोण को उपस्थित करने वालों में दो व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं—मेकियावेली और फ्रांसिस बेकन। मेकियावेलीने राज्यशक्ति के पशु-बल को ही एक मात्र ध्येय माना। 'जो राजा करे वही न्याय, जो पासा पड़े वही दाव।' इस प्रकार अर्वाचीन यूरोप का प्रारम्भ हुआ। फ्रांसिस बेकन भी आधुनिक यूरोप का एक सूत्रधार माना जाता है। बेकन ने कहा—संयम कायरताका दूसरा नाम है। इसकी मान्यता थी कि शरीर को स्वेच्छाचार और संयम, दोनों का समान अनुभव करना चाहिये। मैं झूठा होऊं, पापाचारी होऊं तो कोई परवाह नहीं। मैं अपने रागद्वेषको पुष्ट कराने के लिए कुछ भी करूं तो उसमें विश्वका कोई नियम रुकावट नहीं डाल सकता। मुझे तो केवल यही देखना है कि मैं विज्ञान की सहायता से इतनी शक्ति प्राप्त कर सकूं कि जिससे अपनी इच्छा की छाप समस्त विश्वपर बैठा सकूं। मेकियावेली और बेकन की विचार-धाराओं को लेकर दो मान्यताएं प्रकट हुईं—

१. राजसत्ताकी इच्छा ही जीवन-व्यवहारका अन्तिम ध्येय है और २ जिस राजसत्ताके पास विनाशके जितने साधन हों उसकी इच्छा अन्तिम विश्वनियम के रूप मे है।

आज भी दुनिया में प्रायः यही होता दिखलाई पड रहा है। पिछले महायुद्ध तथा उसके परिणामस्वरूप जो अनेक आर्थिक कठिनाइयाँ मनुष्य को सहनी पडी हैं उनके कारण हमारा नैतिक स्तर बहुत गिर गया है। हजारों वर्ष पहले दु.खी होकर महर्षि वेदव्यासने कहा था—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न कश्चिच्छृणोति माम् ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ॥

अर्थात् मैं भुजा उठाकर चीख रहा हूँ लेकिन मेरी कोई नहीं सुनता। मेरी समझमें नहीं आता कि जब धर्म से अर्थ और काम दोनों प्राप्त हो सकते हैं तो लोग उस धर्म का सेवन क्यों नहीं करते ?

आज की स्थिति तो उससे भी बिगड़ी हुई है। धर्म और नैतिकता को आज तिलांजलि दे दी गई है. आज अपने स्वार्थोंकी सिद्धि ही एकमात्र साध्य अधिकांश लोगों के सम्मुख रह गया है। यह स्थिति वांछनीय नहीं। गांधी जैसा महामानव जब इस संसार मे चलता-फिरता था, वह वातावरण को पवित्र बनाये रखने मे भरसक प्रयत्न करता था। नेहरूजी ने गाँधीजी के सम्बन्ध में कहीं लिखा था—

'गाँधीजी समाजवादी नहीं बल्कि अराजकवादी थे। समाजवादी तो समाजवादी नियमों के अनुसार शासन चलने पर सन्तुष्ट हो जायगा किन्तु अराजकवादी के पास सन्तोष नाम की कोई वस्तु

नहीं, वह समाजवादी शासन की बुराइयों को दूर करने में भी उतना ही प्रयत्नशील होगा जितना साम्राज्यवादी शासन की बुराइयाँ दूर करने मे। गाँधीजी वेहद अमली आदमी थे। वे सपनों की दुनिया में नहीं रहते थे। परिस्थितियाँ उनके कार्यक्रम को आगे बढाती रहती थीं। ऐसी स्थिति भी आसकती है जब समाजवादी प्रतिगामी हो जाय किन्तु गाँधीजी निरन्तर प्रगतिशील रहे।' कौन नहीं जानता कि देशको स्वतन्त्रता मिल जाने के बाद भी किस प्रकार उस स्वतन्त्रताकी रक्षा करने में उन्होंने अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी। जिस राष्ट्रने गांधी जैसे राष्ट्र-पिताको जन्म दिया था, आज उसका नैतिक स्तर इतना गिर जाय, यह बड़े दुःख और बडी लज्जाकी बात है।

जबसे हमारा देश स्वतन्त्र हुआ है, हमें चाहे सुख-सुविधाएँ मिलने लगी हों या न मिलने लगी हों किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हमारा दायित्व बढा है, हमारी जिम्मेदारी बढी है। विद्यार्थियों की सभा में मैंने जिनको बोलते हुए सुना है वे प्रायः यही कहते हैं कि छात्र ही इस राष्ट्रकी भावी आशाएँ हैं, भावी शासन का भार उन्हीं के कन्धों पर पडेगा, वे ही देश के कर्णधार होंगे। मैं नहीं समझता इसतरह की उक्तियो का विद्यार्थियों के मन पर क्या प्रभाव पडता है ? वे यह समझते हैं कि यह तो वक्ताओं की ओर से एक प्रकार के शिष्टाचारका निर्वाहमात्र है जिसका कोई विशेष महत्त्व नहीं और न जिस पर किसी गम्भीरता से विचार किये जाने की आवश्यकता ही है राष्ट्र के अन्य किसी युग में इस तरह के विचार केवल शिष्टाचारमात्र भले ही रहे हों किन्तु आज हम इस प्रकार के उद्गारों को केवल शिष्टाचार के रूप में नहीं ले सकते । शिक्षण

संस्थाओं का आज इस विषय में बड़ा भारी दायित्व है जिसकी अवहेलना करना कर्तव्यों पर कुठाराघात होगा। विद्या-मन्दिर मे ज्ञान की उपासना करने वाले शिक्षक और छात्र जब कभी किसी विषय का अध्ययन करते हैं अथवा उस पर विचार-विमर्श करते हैं तब उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक का दृष्टिकोण हो सकता है। उनके कोई न्यस्त स्वार्थ नहीं होते, इसलिए उनके विचार भी केवल सत्यान्वेषण के शुभ लक्ष्यको लेकर प्रवृत्त हो सकते हैं। यह सच है कि राष्ट्र के पुनर्निर्माणके लिए हमे असख्य योग्य शिक्षको, वैज्ञानिकों, इंजीनियरो और डाक्टरों आदि की आवश्यकता होगी किन्तु आज वैज्ञानिक दृष्टिकोण की जिसे अनासक्त दृष्टि-बिन्दु भी कहा जा सकता है, सर्वाधिक आवश्यकता है। वैज्ञानिक जब किसी वस्तु पर विचार करता है, जब वह कोई प्रयोग करता है तो सत्यका अन्वेषण ही उसका प्रधान लक्ष्य होता है किन्तु आज हम देखते हैं कि हमारा दृष्टिकोण विकृत हो गया है।

सत्यान्वेषण और न्याय ही हमारे कर्तव्य की कसौटी होनी चाहिए। नेहरूजी जब यूरोप गये थे तब एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात उन्होने कही थी कि यहाँ आकर मैं भारतवर्ष को दूर से देख सकता हूँ और तभी हमारे देश के रूप की सच्ची प्रतीति मुझे हो पाती है। वास्तव मे यह सही है कि दूरसे देखने पर ही हम किसी चीज को उसके सच्चे रूप में देख पाते हैं। दूरसे देखने पर सूर्य-चन्द्र गोल दिखलाई पड़ते हैं, यही उनका आकार भी है किन्तु पृथ्वी के हम नजदीक रहते हैं तो उसका सच्चा रूप हमें दिखलाई नहीं पड़ता—वह भी तो सूर्य-चन्द्र की तरह ही गोल है किन्तु नजदीक से देखने पर हमे उसकी चतुरस्रता की ही प्रतीति

नहीं, वह समाजवादी शासन की बुराइयो को दूर करने में भी उतना ही प्रयत्नशील होगा जितना साम्राज्यवादी शासन की बुराइयाँ दूर करने मे। गाँधीजी वेहद असली आदमी थे। वे सपनों की दुनिया में नहीं रहते थे। परिस्थितियाँ उनके कार्यक्रम को आगे बढाती रहती थीं। ऐसी स्थिति भी आसकती है जब समाजवादी प्रतिगामी हो जाय किन्तु गाँधीजी निरन्तर प्रगतिशील रहे।' कौन नहीं जानता कि देशको स्वतन्त्रता मिल जाने के बाद भी किस प्रकार उस स्वतन्त्रताकी रक्षा करने मे उन्होने अपने प्राणो की बाजी लगा दी थी। जिस राष्ट्रने गांधी जैसे राष्ट्र-पिताको जन्म दिया था, आज उसका नैतिक स्तर इतना गिर जाय, यह बडे दुख और बड़ी लज्जाकी बात है।

जबसे हमारा देश स्वतन्त्र हुआ है, हमें चाहे सुख-सुविधाएँ मिलने लगी हों या न मिलने लगी हों किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हमारा दायित्व बढा है, हमारी जिम्मेदारी बढी है। विद्यार्थियों की सभा में मैंने जिनको बोलते हुए सुना है वे प्राय· यही कहते हैं कि छात्र ही इस राष्ट्रकी भावी आशाएँ हैं, भावी शासन का भार उन्हीं के कन्धों पर पड़ेगा, वे ही देश के कर्णधार होंगे। मैं नहीं समझता इसतरह की उक्तियों का विद्यार्थियों के मन पर क्या प्रभाव पडता है ? वे यह समझते हैं कि यह तो वक्ताओं की ओर से एक प्रकार के शिष्टाचारका निर्वाहमात्र है जिसका कोई विशेष महत्त्व नहीं और न जिस पर किसी गम्भीरता से विचार किये जाने की आवश्यकता ही है राष्ट्र के अन्य किसी युग में इस तरह के विचार केवल शिष्टाचारमात्र भले ही रहे हों किन्तु आज हम इस प्रकार के उद्‌गारों को केवल शिष्टाचार के रूप मे नहीं ले सकते। शिक्षण

संस्थाओं का आज इस विषय में बड़ा भारी दायित्व है जिसकी अवहेलना करना कर्तव्यों पर कुठाराघात होगा। विद्या-मन्दिर में ज्ञान की उपासना करने वाले शिक्षक और छात्र जब कभी किसी विषय का अध्ययन करते हैं अथवा उस पर विचार-विमर्श करते हैं तब उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक का दृष्टिकोण हो सकता है। उनके कोई न्यस्त स्वार्थ नहीं होते, इसलिए उनके विचार भी केवल सत्यान्वेषण के शुभ लक्ष्यको लेकर प्रवृत्त हो सकते हैं। यह सच है कि राष्ट्र के पुनर्निर्माणके लिए हमे असंख्य योग्य शिक्षकों, वैज्ञानिकों, इंजीनियरों और डाक्टरों आदि की आवश्यकता होगी किन्तु आज वैज्ञानिक दृष्टिकोण की जिसे अनासक्त दृष्टि-विन्दु भी कहा जा सकता है, सर्वाधिक आवश्यकता है। वैज्ञानिक जब किसी वस्तु पर विचार करता है, जब वह कोई प्रयोग करता है तो सत्यका अन्वेषण ही उसका प्रधान लक्ष्य होता है किन्तु आज हम देखते हैं कि हमारा दृष्टिकोण विकृत हो गया है।

सत्यान्वेषण और न्याय ही हमारे कर्तव्य की कसौटी होनी चाहिए। नेहरूजी जब यूरोप गये थे तब एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात उन्होंने कही थी कि यहाँ आकर मैं भारतवर्ष को दूर से देख सकता हूँ और तभी हमारे देश के रूप की सच्ची प्रतीति मुझे हो पाती है। वास्तव मे यह सही है कि दूरसे देखने पर ही हम किसी चीज को उसके सच्चे रूप मे देख पाते हैं। दूरसे देखने पर सूर्य-चन्द्र गोल दिखलाई पड़ते हैं. यही उनका आकार भी है किन्तु पृथ्वी के हम नजदीक रहते हैं तो उसका सच्चा रूप हमें दिखलाई नहीं पड़ता—वह भी तो सूर्य-चन्द्र की तरह ही गोल है किन्तु नजदीक से देखने पर हमें उसकी चतुरस्रता की ही प्रतीति

होती है, उसके गोल होने की नहीं ।

भारतीय राष्ट्र में आज यदि कोई देशवासी किसी पद पर नियुक्त है तो उसे सोचना होगा कि मै जो कार्य कर रहा हूँ उसमें स्वार्थवश लिप्त हो कर मैं राष्ट्र के प्रति कोई अन्याय तो नहीं कर रहा । इस दृष्टि से सोचने और अपने विचार को कार्य का रूप देने पर हमारा नैतिक स्तर उच्च होगा और बहुत सी राष्ट्रीय समस्याएँ भी हल हो सकेंगी ।

: अठारह :

सभ्यता और संस्कृति

बहुत से लेखक सभ्यता और संस्कृति का समानार्थक शब्दों की तरह प्रयोग करते हैं किन्तु कुछ विचारकों के मतानुसार इन दोनों शब्दों में मौलिक अंतर है तथा इनका क्षेत्र भी नितान्त भिन्न है। राजनीति, अर्थशास्त्र, वैज्ञानिक आविष्कार आदि सभ्यता के अंतर्गत हैं, तथा ललित कला एवं धर्म आदि का समावेश संस्कृति में किया जाता है। सभ्यता का संबन्ध बाह्य उपकरणों से है और संस्कृति है एक आन्तरिक वस्तु। सभ्यता यदि देह है तो संस्कृति है देह के भीतर रहने वाला प्राण। मैक आइवर (Mac Iver) ने ठीक ही कहा है—Our culture is what we are, our civilisation is what we use.

सभ्यता के उपकरणों को हम इसलिए चाहते हैं कि उनके बिना हमारा काम नहीं चलता किन्तु संस्कृति मे प्रयोजन अथवा आवश्यकता का प्रश्न नहीं उठता। 'ब्राह्मणेन निष्कारणो षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' का पुरातन आदर्श प्रयोजनीयता का अतिक्रमण कर शुद्ध संस्कृति के क्षेत्र में प्रवेश करता है। आवागमन के अनेक साधनों तथा वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा सब प्रकार के स्वार्थ सिद्ध किये जाते हैं किन्तु तुलसी, रवीन्द्र अथवा प्रसाद की कविता

हम पढते हैं तो उससे शुद्ध उपयोगिता की दृष्टि से हमारा कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता। वहाँ आनन्द स्वत ही लक्ष्य बन जाता है, किसी ध्येय का साधन मात्र नहीं रह जाता।

सभ्यता का अनुकरण हो सकता है, संस्कृति का नहीं। मैंचेस्टर के ढंग के कल कारखाने खुल सकते हैं, बैंक, पार्लमेण्ट बीमा-कम्पनी आदि सबकी स्थापना की जा सकती है। साधन उपलब्ध होने पर टैंक, वायुयान आदि चाहे जितनी संख्या में तैयार किये जा सकते हैं, राष्ट्रीय सम्पत्ति भी सैकड़ों गुना बढाई जा सकती है किन्तु कहाँ है वह फैक्टरी जहाँ गाँधी और टैगोर गढे जा सकें? अनन्त मानव-समुदाय की शक्ति का एक साथ प्रयोग करके भी कालिदास, शेक्सपियर, बुद्ध और शंकर का स्वेच्छा से चाहे जब निर्माण नहीं किया जा सकता। लाखो नामधारी रामा-श्यामाओं को मिलाकर भी कहीं राम और कृष्ण का निर्माण किया जा सकता है?

संस्कृति पर सहज अधिकार प्राप्त नहीं किया जा सकता क्योंकि उनमें मनुष्य की अंतरात्मा की अभिव्यक्ति होती है। कवि का काव्य कवि के लिए है या सहृदय पाठक के लिए, सबके लिए नहीं। मोटर, रेल, वायुयान आदि की मशीनरी के बारे मे कुछ भी न जानते हुए हम उनका बराबर उपयोग कर सकते हैं। किन्तु जयदेव के गीत गोविन्द का रसास्वादन कर सकेगा कोई कवि-हृदय सहृदय भावुक ही।

सभ्यता की दृष्टि से अतीत की तुलना में वर्तमान अधिक समृद्धशाली कहा जायगा क्योंकि सभ्यता के प्रासाद का निर्माण क्रमश. होता है किन्तु संस्कृति के लिए यह बात लागू नहीं।

वायुयान का एक बार आविष्कार हो गया तो पर्याप्त साधनों की सहायता से चाहे जितनी संख्या में वायुयान बना लीजिए किन्तु ऐसी कोई अटकल नहीं जिससे रवीन्द्र और कालिदास भी बना लिये जायँ। कला में ग्रीस ने जो उत्कर्ष दिखलाया, माइकेल एंजिलो ने भास्कर्य में जिस प्रतिभा का परिचय दिया वह आज तक अतुलनीय है। संस्कृति के मार्ग में कभी प्रकाश है तो कभी छाया। इसीलिए तो यह मार्ग अत्यन्त दुरूह है। सभ्यता स्थायी है, संस्कृति परिवर्तनशील है। आधुनिक युग ने गाँधी और टैगोर को जन्म दिया किन्तु इनके प्रतिरूप या समकक्ष न जाने कभी पैदा हों या न हों!

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि धर्म का संबन्ध भी सभ्यता से नहीं, संस्कृति से है। सभ्यता सभा की वस्तु है, धर्म व्यक्ति की आन्तरिक सम्पत्ति है। माला, छापा, तिलक धार्मिक वृत्ति जागृत करने के लिए साधन बनाये जा सकते हैं किन्तु उनका दुरुपयोग ही अधिक होता आया है। कर्मेन्द्रियों को वश में करके विषय भोगों का मानसिक चिन्तन करने वाला व्यक्ति संस्कृत मनोवृत्ति का परिचय नहीं देता। गीता में भी शारीरिक संयम की अपेक्षा मानसिक संस्कार पर जोर दिया गया है—

'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥'

यदि धर्म के सच्चे स्वरूप को हम हृदयंगम करना चाहें तो हमें मानसिक वृत्तियों के संस्कार पर जोर देना होगा।

सभ्यता और संस्कृति के तारतम्य को यदि हम भली भाँति समझ लें तो हमें इस विरोधाभास को स्वीकार करने में तनिक भी

हिचकिचाहट न होगी कि अत्यन्त सभ्य देश भी असंस्कृत हो सकता है तथा एक सस्कृत देश अपेक्षाकृत असभ्य भी हो सकता है । भारत भी सभ्यता की ऊपरी चकाचौंध के फेर में न पडकर सस्कृति की ओर ही उन्मुख होगा तभी वह मानव धर्म का सच्चा आदर्श विश्व के सामने रख सकेगा ।

: उन्नीस :

भारतीय संस्कृति का समन्वयात्मक रूप

महादेव गोविन्द रानाडे इस बात पर गर्व किया करते थे कि भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जहाँ एक ओर मंदिर दिखाई पड़ते हैं तो दूसरी ओर मस्जिद; एक ओर जैनी साधुओं के उपाश्रय हैं तो दूसरी ओर बौद्धों के मठ और विहार हैं; एक ओर दादू पंथियों के रामद्वारे हैं तो दूसरी ओर सिक्खों के गुरुद्वारे तथा कबीर पन्थियों के मठ दिखाई पड़ते हैं। शायद रवीन्द्र ने भी भारतीय संस्कृति की तुलना सहस्रदल कमल से की थी जिसकी अनेकों पंखड़ियाँ कमल की शोभा बढ़ाने के लिए होती हैं। इस विशाल देश में अनेक प्रकार के जन हैं, सैकड़ों भाषाएँ उपभाषाएँ हैं, भाँति-भाँति के रहन सहन हैं, अनेक सम्प्रदाय हैं, अनेक धर्म हैं, अनेक रीति रिवाज और अनेक धार्मिक विश्वास प्रचलित हैं। भारतीय संस्कृति एक महासागर के समान जान पड़ती है जिसमें प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक अनेकों सरिताएँ आकर मिलती रही हैं। आत्मसात् कर लेने का, अपने में खपा लेने का गुण भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता कही जा सकती है। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने मूर्खों के पाँच लक्षण बतलाते हुए लिखा था—

वेदप्रामाण्य कस्यचित् कर्तृवाद:
स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेप:
संतापारम्भ: पापहानाय चेति
ध्वस्तप्रज्ञाना पचलिंगानि जाड्ये ॥

अर्थात् (१) वेद को प्रामाणिक मानना (२) किसी को सृष्टि-कर्ता स्वीकर करना (३) तीर्थस्नान द्वारा धर्म की इच्छा करना (४) उच्च जाति में उत्पन्न होने के कारण गर्व करना तथा (५) पापो को नष्ट करने के लिए पचाग्नि आदि तप करना—मूर्खता के ये पाँच लक्षण उन लोगों के सम्बन्ध में चरितार्थ होते हैं जिनकी बुद्धि मारी गई है । यद्यपि उक्त पद्य मे हिन्दू शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है किन्तु धर्म-कीर्ति का सकेत निश्चय ही हिन्दुओं की ओर है । 'ध्वस्तप्रज्ञ' के प्रयोग द्वारा धर्मकीर्ति की हिन्दू धर्म के प्रति घृणा और हीन-भावना प्रकट हो रही है किन्तु यह देखकर किसे आश्चर्य न होगा कि उन्हीं हिन्दुओं ने बुद्ध को अपने अवतारों में शामिल कर लिया । यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं कि जो देश बुद्ध-धर्म की जन्म-भूमि था, उसी देश में बौद्धधर्मावलवियों की सख्या चीन, जापान, तिब्बत आदि के बौद्धों की अपेक्षा अत्यल्प रह गई ।

कहते हैं, हिन्दुस्तान में यूनानी राज्य के समय लगभग ५० हजार यूनानी यहाँ बस गये थे जो कालान्तर में हिन्दू बन कर समाज में एकरूप हो गये थे । बैक्ट्रियन आक्रमणकारी मीनान्दर ने बौद्ध सिद्धान्तों के सामने अपना सिर झुकाया व (मिलिन्दप्रश्न) के साहित्य का जन्म हुआ । यूनानी राजदूत हिलीयोडोरस विदिशा जाकर वैष्णव बन गया था जिसने अपने को परम भागवत की

पदवी से विभूषित किया। प्रसिद्ध है कि रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी बंगाल के शासकों के मुसलिम मंत्री थे। सन् १५१६ में वे चैतन्य महा प्रभु के शिष्य हो गये थे। रूप गोस्वामी ने विदग्ध माधव, ललितमाधव और भक्तिरत्नामृतसिन्धु नामक ग्रन्थ लिखे, श्रीमद्भागवत पर वैष्णवतोषिणी नामक टीका लिखी। जिस भक्ति—संप्रदाय को चैतन्य से प्रेरणा मिली थी उसकी स्थापना में इन दोनों मुस्लिम संतों का बड़ा हाथ रहा है। उन्हीं के भतीजे जीव गोस्वामी चैतन्य के सबसे बड़े शिष्यो मे थे। शक, यूशी आदि विदेशी जातियाँ भी इस संस्कृति द्वारा आत्मसात कर ली गई। कनिष्क, वासुदेव आदि यूशी जाति के होते हुए भी सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय ही थे। रूद्रदामन आदि शक क्षत्रप विदेशी होते हुए भी पूरे भारतीय ही थे जैसा कि रुद्रदामन के गिरनार स्थित शिलालेख से स्पष्ट हो जाता है। हूणो का भी यही हाल हुआ। तोरमाण व मिहिरकुल शैव बन गये थे जैसा कि उनके स्तम्भलेखों से ज्ञान होता है। किन्तु यह सत्य है कि मुसलमानों को भारतीय संस्कृति आत्मसात् न कर सकी।

जिस प्रकार भारतीय संस्कृति में भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का संगम हुआ है, इसके सम्बन्ध मे बहुत वर्ष पहले मैंने शांतिनिकेतन के आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन का एक लेख पढ़ा था जिसमें उन्होने बतलाया था कि शिव अवैदिक देवता हैं। अनेक शिव विरोधी उपाख्यान पुराणों मे मिलते हैं। शिव का किरात वेश और उनकी साँप माला आदि भी उनकी अवैदिकता को ही प्रमाणित करते हैं। कहते हैं, देवी-पूजा की भी कोई ऋचा वेदों मे नहीं मिलती किन्तु देवी-स्तुति के समय गाया जाता है

"गावत वेद अघात नहीं यश तेरो महिमामयि माता।"

आज शक्ति की उपासना इस प्रकार हमारे धर्म का अंग बन गई है कि कोई विश्वास भी नहीं करना चाहता कि देवीपूजा अवैदिक है।

तीर्थस्नान का पुण्य-लाभ भी, कहते हैं, वैदिक साहित्य के बाद की वस्तु है। वैदिक मत के विरुद्ध ही तैर्थिक-मत प्रचलित हुआ था। नदी-पूजा का कोई मन्त्र वेदों में नहीं है। वृक्षपूजा और ग्राम-देवताओं की पूजा का भी कोई वैदिक समर्थन नहीं मिलता। बहुत से विद्वानों का मत है कि होली का त्यौहार भी हमने दूसरों से ग्रहण किया है। सुनते हैं, किसी-किसी प्रान्त मे आज भी किसी अन्त्यज के घर से आग मगा कर होलिका-दाह किया जाता है। यह भी एक आश्चर्य में डालने वाली बात है कि सिन्दूर जैसे मांगलिक पदार्थ के लिए अपने यहाँ का कोई संस्कृत शब्द नहीं मिलता। सिन्दूर के लिए नागगर्भ और नागसंभव जैसे शब्दों का प्रयोग होता है जिससे अनुमान किया जाना है कि यह नाग जाति की वस्तु रही होगी। फलित ज्योतिष भी विदेशी है किन्तु आज उसका सर्वत्र जयजयकार हो रहा है। इतना ही नहीं भक्ति भी अवैदिक है। पद्म-पुराण की कथा में भक्ति के मुख से कहलवाया गया है—

उत्पन्ना द्राविडे चाऽहं कर्णाटे वृद्धिमागता
स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णता गता॥

बहुत वर्षों पहले कबीर भी कुछ इसी तरह की बात कह गए थे—"भक्ति द्राविड ऊपजी, लाये रामानन्द।"

सिक्खों ने ग्रन्थ पूजा मुसलमानों से सीखी, राजपूतों ने

पर्दा-प्रथा और अफीम-सेवन मुसलमानों से लिया।

भारतीय संस्कृति के इस विशाल समुद्र में न जाने समय-समय पर कितने निर्झर आकर मिलते रहे हैं किन्तु जिस प्रकार समुद्र में मिल जाने पर नदी-नद अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो देते हैं, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति-समुद्र में एकाकार हुई बहुत सी अवैदिक अथवा अभारतीय वस्तुएँ भी आज इतिहास के आलोक के बिना पहचानी नहीं जाती। भारतीय संस्कृति के इस समन्वयात्मक रूप की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए।

: बीस :

बाउल संत और उनकी साधना

आचार्य क्षितिमोहन सेन की कृपा से संत-साहित्य के रसिकों को बाउल संतो के भजनों के रसास्वादन का सुयोग प्राप्त हो सका है। मैं नहीं कह सकता, बाउल संतो पर और भी किसी ने लिखा हो, कम से कम हिन्दी मे तो इस विषय पर कोई लेख मेरे देखने में नहीं आया। और फिर ये बाउल संत अपना कोई वृत्त भी तो नहीं रखते। एक बार विक्रमपुर में आचार्य सेन नदी-किनारे किसी बाउल के पास बैठे थे। उन्होने बाउल से पूछा—बाबा, आप अपना जीवन-वृत्त लिखित रूप में सुरक्षित क्यों नहीं रखते जिससे आने वाली पीढ़ियाँ उसका लाभ उठा सकें? बाउल ने उत्तर दिया—हम तो सहज-पथ के अनुयायी हैं, इसीलिये अपना कोई चिह्न भी नहीं छोड जाना चाहते। तूफ़ानी नदियों मे बहने वाली नावे जल पर अपना कौनसा चिह्न छोड जाती हैं? आवश्यकता केवल इस बात की है कि भक्ति का स्रोत अनवरत बहता रहे, वह सूख न जाय। जितने स्रोत गंगा में मिलते हैं वे सब गंगा बन जाते हैं, इसी प्रकार बाउल भक्ति के सामान्य स्रोत मे अपने आपको डुबाये रहते हैं।

'बाउल' शब्द संस्कृत 'वातुल' से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ

होता है 'पगला' 'बावला'। बाउल संत किसी भी शास्त्रीय बंधन को स्वीकार नहीं करते ; कोई भी शास्त्राज्ञा उनके लिये मान्य नहीं। एक बार यह पूछने पर कि आप शास्त्र के बंधनों को स्वीकार क्यों नहीं करते, एक बाउल ने उत्तर दिया था—क्या हम वे श्वान हैं जो दूसरों के उच्छिष्ट पर जीवन बसर करें? वीर अपना पथ स्वयं प्रशस्त करते हैं। बाउल संतों में गृहस्थ और अगृहस्थ दोनों हैं किन्तु इन में से कोई भी वर्ग या जाति, देवता, मंदिर अथवा तीर्थों को नहीं मानते। धर्मिक उत्सवों (विशेषतः वैष्णवों के उत्सवों में) वे सम्मिलित अवश्य होते हैं किन्तु किसी मन्दिर में वे कभी प्रवेश नहीं करते। उनका कहना है कि इन भौतिक मन्दिरों की आवश्यकता ही क्या है? क्या हमारा शरीर ही वह मंदिर नहीं है जिसमें उस दिव्य देव का निवास है? बाउल संतों ने ही नहीं, कबीर, नानक, रैदास, दादू, जायसी आदि अनेक संतों ने मनुष्य के शरीर को ही भगवान् का मन्दिर माना है। जायसी कहते हैं—

"चौदह भुवन जे तर उपराहीं, ते सब मानुष के घट आहीं।"

बाउल संतों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही हैं और प्रायः समाज के निम्नतम वर्ग के ही लोग उनमें पाये जाते हैं किन्तु यदि कोई उच्च वर्ग का व्यक्ति भी बाउल बनता है तो वह भी अन्य बाउलों की भाँति सर्वसामान्य रूप ग्रहण कर लेता है क्योंकि बाउल किसी भी प्रकार की ऊँच-नीच को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि नाव में जो नीचे का तख्ता है वह क्या ऊपर के तख्ते से कम महत्त्वपूर्ण है?

अगर किसी बाउल से यह पूछा जाय कि उसका 'सहजधर्म' कितना प्राचीन है तो वह तुरन्त उत्तर देता है—"हमारा सहज धर्म

अनादि और अनन्त है।" बाउलों की दृष्टि में तो उपनिषद्, वेद, पुराण इन सभी में जिस धर्म का प्रतिपादन किया गया है, वह कृत्रिम है, केवल सहज-धर्म ही स्वाभाविक-धर्म है। कुछ बाउल जिनको शास्त्रों का थोडा ज्ञान है, कहते हैं कि वेदों मे भी 'निवुत्तिय' के नाम से जिनका उल्लेख हुआ है वे 'सहज-धर्म' के ही मानने वाले थे। 'निवुत्तिय' वे लोग होते थे जो किन्हीं भी शास्त्रीय सिद्धान्तो के पालन करने वाले नहीं थे। सत्य का विशुद्ध रूप मे साक्षात्कार कर लेने पर समस्त दिशाओं का द्वार उनके लिए उन्मुक्त था। अथर्ववेद में अनेक स्थानों पर 'व्रात्य' और उनके सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। व्रात्य-सिद्धान्तों और बाउल सतों के सिद्धान्ता मे बहुत कुछ समानता है। अथर्ववेद में तो एक स्थान पर कहा गया है—"मानव एक विलक्षण मन्दिर है। जब यह बनकर तैयार होगया तो देवता आये और उन्होने उसमें शरण ली।"

बाउल संतों की तो मान्यता है कि वेदों ने भी 'सहज-धर्म' से ही कुछ सत्यों का आकलन कर लिया है, अपने सहज-सिद्धान्तों के लिये वे वेदों के ऋणी हैं, इस बात को मानने के लिये वे तैयार नहीं। उनका कहना है कि हम जैसे लोग वेद और शास्त्रों को क्या जानें? किन्तु गुरु की महत्ता को वे भी स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में गुरु और शिष्य दोनों के दो-दो रूप होते हैं—एक चिन्मय तथा दूसरा मृण्मय। सच्चे अर्थ में शिष्य को तभी दीक्षित समझना चाहिए जब गुरु और शिष्य दोनों के चिन्मय रूपों का परस्पर सम्मिलन हो जाय। वे एक ही गुरु में विश्वास नहीं करते, उनकी दृष्टि में असख्य गुरु होसकते हैं। उनका कहना है कि दीक्षा तो एक जन्म-व्यापी व्यापार है और वह थोडी-थोडी करके अनेक

गुरुओं से प्राप्त की जासकती है। बाउल इस निष्कर्ष पर भी पहुँचते हैं कि गुरु जो सब ज्ञान का स्रोत है वह तो हृदय के अंतः प्रदेश मे ही निवास करता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे किसी बाह्य गुरु को स्वीकार नहीं करते तथापि उनकी मान्यता है कि गुरु यदि शिष्य का स्वाभाविक विकास न होने दे और अपना व्यक्तित्व उस पर लाददे तो इससे बढ़कर और कोई हानि नहीं; यह तो आत्मा का हनन है जो शरीर के हनन से भी बुरा है। सैद्धान्तिक दृष्टि से इस प्रकार मानने पर भी बाउल अपने गुरु के प्रति बड़ा आदर-सम्मान दिखलाते हैं। वस्तुतः देखा जाय तो बाउल 'मनेर मानुष' अर्थात् मन के मानव के उपासक हैं। मानव के इस महत्त्व का संकेत पुरुष-सूक्त में भी मिलता है और जैसा ऊपर कहा जा चुका है, मध्ययुग के भारतीय संतों ने मानव को सर्वाधिक महत्त्व दिया था—महाभारत मे तो यहाँ तक कहा गया है—

> "तस्मात् परं गुह्यमिद ब्रवीमि
> नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।"

अर्थात् मैं तुम्हें परम रहस्यमयी बात बतला रहा हूँ; मनुष्य से श्रेष्ठतर इस ससार में कुछ भी नहीं।

बाउल संत नारी के दो रूप स्वीकार करते हैं (१) विग्रह और (२) आग्रह। विग्रह वाले रूप का सम्बंध पति और घर से है, आग्रह वाला रूप नारी का आदर्श रूप है जो समस्त विश्व को शक्ति प्रदान करता है। मध्ययुग के संतों की नारी-भावना तथा बाउल संतों के नारी विषयक उदार विचारों पर संत-साहित्य के अध्येताओं का ध्यान मैं आकर्षित करना चाहता हूँ। 'एक रस' और 'समरस' जैसे शब्द भी बाउल संतों की दृष्टि में प्रेम के ही नामा-

न्तर हैं। शिव और शक्ति के मिलन से ही समरस की उत्पत्ति हो सकती है। 'त्रिकाल-योग' भी बाउल सतों का एक प्रमुख सिद्धान्त है। भूत और भविष्य को लक्ष्य में रखकर वर्तमान का नियमन होना चाहिये, वर्तमान के भौतिक स्वार्थ कहीं आध्यात्मिक ध्येय के मार्ग मे व्यवधान का रूप न धारण करले ? इसी प्रकार बाह्य जगत् तथा आतरिक जगत् में भी सामरस्य-स्थापन की आवश्यकता है। इसकी सिद्धि के लिये आध्यात्मिक प्रयत्न अपेक्षित है जो 'काया-साधना' के नाम से अभिहित किया जाता है। समरसता के द्वारा आत्मप्रसार होने पर ही 'काया-साधना' सफल होसकती है। काया साधना की दूसरी पद्धति है 'ऊर्ध्व स्रोत'। सामान्यत' मनुष्य की इच्छाएँ निम्नाभिमुखी होती हैं, साधक का कर्त्तव्य है कि वह ऐसी इच्छाओं के स्रोत को ऊर्ध्वमुख कर दे। तान्त्रिक योग-साधना से बाउलो की योग-साधना नितान्त भिन्न है। सहज-धर्म का अनुयायी केवल दिव्य मिलन का आकाक्षी होता है, भौतिक इच्छाएं इस प्रकार के मिलन में बाधक समझी जाती हैं। शरीर को अनावश्यक कष्ट देना बाउलों को मान्य नहीं, वे तो 'सहज-मार्ग' का अनुगमन करने वाले हैं।

बाउलों का सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय विशेष से नहीं, वे अपना भी कोई सम्प्रदाय स्थापित करना नहीं चाहते। बहुत से भारतीय सत-संप्रदायों में सिर के केश आदि को एक विशेष ढग से रखने की प्रथा है। किसी सम्प्रदाय-विशेष के न समझ लिये जाएँ, इसलिये ये बाउल सत अपने सिर तथा दाढ़ी-मूंछों के बालों को यथेच्छ बढ़ने देते हैं। बाउल सत-परम्परा में गुरुद्वारा कहे हुए गीत शिष्य तक पहुँचते रहते हैं, शिष्य अपने भी गीत बनाता जाता है।

हिन्दी के राष्ट्र-भाषा हो जाने पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिये भी यह आवश्यक एवं वाञ्छनीय ज्ञात पड़ता है कि बाउल संतों के गीत हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हों। विषय के विस्तृत विवेचन के लिए आचार्यसेन की पुस्तक 'Mediaeval Mysticism of India' द्रष्टव्य है।

न्तर हैं। शिव और शक्ति के मिलन से ही समरस की उत्पत्ति हो सकती है। 'त्रिकाल-योग' भी बाउल संतों का एक प्रमुख सिद्धान्त है। भूत और भविष्य को लक्ष्य में रखकर वर्तमान का नियमन होना चाहिये, वर्तमान के भौतिक स्वार्थ कहीं आध्यात्मिक ध्येय के मार्ग में व्यवधान का रूप न धारण करलें? इसी प्रकार बाह्य जगत् तथा आंतरिक जगत् में भी सामरस्य-स्थापन की आवश्यकता है। इसकी सिद्धि के लिये आध्यात्मिक प्रयत्न अपेक्षित है जो 'काया-साधना' के नाम से अभिहित किया जाता है। समरसता के द्वारा आत्मप्रसार होने पर ही 'काया-साधना' सफल होसकती है। काया साधना की दूसरी पद्धति है 'ऊर्ध्व स्रोत'। सामान्यत: मनुष्य की इच्छाएँ निम्नाभिमुखी होती हैं, साधक का कर्त्तव्य है कि वह ऐसी इच्छाओं के स्रोत को ऊर्ध्वमुख कर दे। तान्त्रिक योग-साधना से बाउलों की योग-साधना नितान्त भिन्न है। सहज-धर्म का अनुयायी केवल दिव्य मिलन का आकांक्षी होता है, भौतिक इच्छाएं इस प्रकार के मिलन में बाधक समझी जाती हैं। शरीर को अनावश्यक कष्ट देना बाउलों को मान्य नहीं, वे तो 'सहज-मार्ग' का अनुगमन करने वाले हैं।

बाउलों का सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय विशेष से नहीं, वे अपना भी कोई संप्रदाय स्थापित करना नहीं चाहते। बहुत से भारतीय संत-संप्रदायों में सिर के केश आदि को एक विशेष ढंग से रखने की प्रथा है। किसी संप्रदाय-विशेष के न समझ लिये जाएँ, इसलिये ये बाउल संत अपने सिर तथा दाढ़ी-मूंछों के बालों को यथेच्छ बढ़ने देते हैं। बाउल संत-परम्परा में गुरुद्वारा कहे हुए गीत शिष्य तक पहुँचते रहते हैं, शिष्य अपने भी गीत बनाता जाता है।

हिन्दी के राष्ट्र-भाषा हो जाने पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिये भी यह आवश्यक एवं वाञ्छनीय ज्ञात पड़ता है कि बाउल संतों के गीत हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हों। विषय के विस्तृत विवेचन के लिए आचार्यसेन की पुस्तक 'Mediaeval Mysticism of India' द्रष्टव्य है।

: इक्कीस :

उपनिषद् और उनका वर्गीकरण

"उपनिषद्" शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है।—ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति के लिये गुरु के पास बैठना। अरण्य के एकांत मे समाहित चित्तवाले शिष्य को अपने पास बिठलाकर गुरु जिस अध्यात्म-ज्ञान का उपदेश दिया करते थे, उसका निरूपण उपनिषदों में हुआ है। कालान्तर में उपनिषद् शब्दका प्रयोग अविद्याका उन्मूलन करने वाली रहस्य-विद्या के रूप में होने लगा। 'रसस्योपनिषत् परा' उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है।

जर्मन विद्वान् ड्यूसनने उपनिषदों के आविर्भाव-काल को लक्ष्य मे रख कर उनको निम्नलिखित चार वर्गों में विभक्त किया है—

(१) गद्य-प्रधान प्राचीन उपनिषद्—बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौशीतकी, केन इत्यादि।

(२) छन्द-प्रधान उपनिषद्-काठक, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक, महानारायण आदि।

(३) परवर्ती गद्य-प्रधान उपनिषद्-प्रश्न, मैत्रायणीय, माण्डूक्य आदि।

(४) अवशिष्ट सब अथर्व उपनिषद् इस चौथे वर्ग में शामिल हैं।

कोई-कोई उपनिषद् संहिताओं में भी मिलते हैं, जैसे ईशोपनिषत् जो शुक्ल यजुर्वेद का ४०वाँ अध्याय माना जाता है।

जो प्रधान उपनिषद् हैं उनका ऊपर उल्लेख हो चुका है। उपनिषदों की संख्या के विषय में बड़ा मत-भेद है। उपनिषदों की संख्या कोई १८, कोई ३४, कोई ४२, और कोई १०८ तक मानते हैं। पर इनमें से बहुत से बहुत पीछे के बने हुए हैं। वेदान्त के आचार्यों के मत में वेदान्तशास्त्र प्रस्थान-त्रय में विभक्त है। उपनिषद्, भगवद्गीता और शारीरकसूत्र। उपनिषदों में निम्नलिखित १० उपनिषद् सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं—ईश, केन कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, और बृहदारण्यक। पूज्यपाद श्रीशंकराचार्य ने इन सब उपनिषदों पर भाष्य लिखा है।

उपनिषद् शब्द से, जैसा ऊपर कहा गया है, ब्रह्म विद्या से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थ अभिप्रेत हैं। उपनिषद् शब्द उपपूर्वक सद् धातु से व्युत्पन्न है। विशरण, गति और अवसादन के अर्थ में सद् धातु प्रयुक्त हो सकती है। ब्रह्म विद्या सांसारिक बुद्धि को अवसन्न अथवा शिथिल करती है तथा अविद्यादि दोषों का निवारण अथवा विनाश करती है। ब्रह्मविद्या को परा विद्या के नाम से अभिहित किया गया है। उपनिषद्-प्रतिपाद्य परा विद्याको अपरा विद्या की अपेक्षा उत्कृष्ट कहा गया है। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है—

"तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पोव्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति-अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।"
कहने का तात्पर्य यह है कि ऋग्वेद आदि अपरा-विद्या के अन्तर्गत हैं। परा विद्या वह है जिसके द्वारा ब्रह्म का बोध होता है किन्तु इसका अर्थ यह न समझा जाय कि पराविद्या वेद-प्रतिपाद्य नहीं है। कहा भी है—"*नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्*" जो वेदवित् नहीं है,

वह उस बृहत् (ब्रह्म) को नहीं जान सकता। वेदों का अंतिम भाग ही वेदान्त कहलाता है। सदानन्द ने कहा है—"*वेदान्तो नाम उपनिषद् प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च।*" उपनिषद् और शारीरक सूत्रादि ही वेदान्त पद वाच्य है।

: बाईस :

प्राचीन भारत में शिक्षा की व्यवस्था

वैदिक-युग में आचार्य अपने ही घर पर शिक्षा की व्यवस्था करता था, जहाँ उसके बाल-बच्चों आदि के साथ-साथ थोड़ी-बहुत संख्या में अन्य छात्र भी शिक्षा ग्रहण करते थे। अपनी शाखा के वेद को कंठाग्र करना छात्र का सर्वप्रथम कर्त्तव्य था। आचार्य के साथ-साथ अनेक बार बोलकर वह शुद्ध उच्चारण का अभ्यास करता था, किन्तु अनुवाचन और तोता-रटन्त ही प्रमुख लक्ष्य न था। वेद की ऋचाओं का अर्थ हृदयंगम करना छात्र के लिए परमावश्यक समझा जाता था। अर्थ को बिना समझे केवल रटंत को वेद में दूषित ठहराया गया है। हाँ, यह अवश्य है कि उच्चारण की शुद्धता पर बहुत अधिक जोर दिया जाता था। यही कारण है कि हजारों वर्ष बीत जाने पर भी वेद के पद-पाठ में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

वैदिक-काल में कर्मकाण्ड की शिक्षा प्रधान थी। उस जमाने में पुरोहित का बड़ा अधिकार था। पहले पुरोहित यज्ञादि के लिए नियुक्त किये जाते थे और पुरोहित का पद कुल-परम्परागत चला था। किन्तु 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' जैसी ऋग्वेद की ऋचाओं में वैदिक ऋषि दार्शनिक जिज्ञासा करने लगे थे, जिसके परिणामस्वरूप उपनिषदों के तत्त्वज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ। जनक ने एक

वार याज्ञवल्क्य से पूछा था—'मृत्यु के बाद कहाँ जाओगे ?' और याज्ञवल्क्य ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया था, वह तत्त्वज्ञान की दृष्टि से इतना उत्कृष्ट है कि डायसन के शब्दों मे आज भी हम उससे अच्छा उत्तर नहीं दे सकते। *किन्तु यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना भी परमावश्यक है कि वैदिक ऋषियों ने शारीरिक स्वास्थ्य और सौंदर्य तथा दैनिक जीवन के आनन्द और प्रफुल्लता की कभी उपेक्षा नहीं की। कुछ वर्ष पहले बिडला-कालेज पिलानी में भाषण देते हुए विश्वविख्यात दार्शनिक सर राधाकृष्णन ने "पश्येम शरदः शतम्, जीवेम शरदः शतम्, अदीनाः स्याम शरदः शतम्" द्वारा शिक्षा-सम्बन्धी वैदिक आदर्श की महत्ता का प्रतिपादन किया था। जो वैदिक शिक्षा में कोरी आध्यात्मिकता और निराशावाद के दर्शन करते हैं, उन्हें वेदों की ऋचाओं का आँख खोलकर अध्ययन करना चाहिए।

शिक्षा की दृष्टि से उपनिषद्-काल को स्वर्ण-युग कहना चाहिए। इस जमाने में अनेक शिक्षण-संस्थाएँ थीं जिनमें पाठन-पद्धति पर विशेष जोर दिया जाता था। प्राचीन भारत की शिक्षा के सम्बन्ध में उपनिषदों से बहुत सी बातों पर प्रकाश पड़ता है। छात्रावस्था मे विद्यार्थी को कड़े अनुशासन में रहना पड़ता था। वह घर और खेत में आचार्य का काम करता, अग्नि-होत्र-आदि के लिए सामग्री जुटाता, पशुओं की देखभाल करता तथा भिक्षा लाता था। शिक्षा समाप्त करने के बाद विद्यार्थी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा मिलती थी। अध्ययन-काल में दृढ़ता से ब्रह्मचर्य

---

*Nor have we even to-day any better reply to give

के नियमों का पालन कराया जाता था। जब तक शिष्य योग्य नहीं हो जाता था, तब तक उसका समावर्तन नहीं होता था। प्राचीन काल के एक शिष्य को बिना समावर्तन-संस्कार हुए चले जाने के कारण किसी गृहस्थ ने विवाह के लिए अपनी कन्या नहीं दी थी; बिना समावर्तन के वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकारी नहीं समझा गया। हताश होकर उसे दुबारा आचार्य के आश्रम में आना पड़ा और जब तक उसकी तामसिक वृत्तियों का निराकरण नहीं हो गया, उसे समावर्तन के योग्य करार नहीं दिया गया। प्राचीन काल में संस्कारों की शिक्षा पर विशेष जोर दिया जाता था और दरअसल देखा जाय तो संस्कारों की शिक्षा ही सच्ची शिक्षा है। प्राचीन शिक्षा के सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि गुरु शिष्य को अपना प्रतिरूप नहीं बनाना चाहते थे। शिष्य की रुचि और मनोवृत्ति पर पूरा ध्यान दिया जाता था। स्वयं लीलामय भी जब इस व्यक्त जगत् के भीतर अपने आपको अनन्त भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट कर रहा है तब शिष्य भी हूबहू गुरु की अनुकृति ही क्यों बने? भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न लीलाएं होनी चाहिए।

'गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके भी वेदाध्ययन को छोड़ न देना' इस प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् के आचार्य ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया था। प्राचीन काल में विद्या के प्रति बड़ा अनुराग था। शिक्षितों का एक ऐसा समुदाय भी होता था जो घूम-घूम कर लोगों में ज्ञान की पिपासा जाग्रत करता था। वे भ्रमणशील विद्वान् ही वास्तव में देश को बहुत कुछ शिक्षित बना पाते थे। चारों वेद, इतिहास, पुराण, भूत विद्या, क्षत्रिय-विद्या, ब्रह्म-विद्या, नीति-

विज्ञान, न्याय-शास्त्र, व्युत्पत्ति-विद्या, पद्य-रचना, नक्षत्र-विद्या आदि अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद भी सनत्कुमार के पास जाकर नारद के शिक्षा ग्रहण करने का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त पांचाल परिषद् जैसी शिक्षा-परिषदें भी होती थीं, जो शिक्षा-विषयक प्रश्नों पर अपना निर्णय देती थीं। उस जमाने के राजा भी विद्वानो की सभा का आयोजन किया करते थे। विदेहराज जनक-द्वारा आयोजित ऐसी सभा का उल्लेख उपनिषदों मे मिलता है। इस सभा में याज्ञवल्क्य से अनेक आध्यात्मिक प्रश्न पूछे गए थे जिनके अत्यन्त सन्तोषप्रद उत्तर देने पर जनक ने महर्षि को स्वर्ण-मुद्राओ से सुसज्जित सींगो वाली १००० गायें देकर पुरस्कृत किया था।

जो धार्मिक पुस्तकें छात्रो को कण्ठाग्र करनी पडती थीं, उनकी संख्या बढ जाने पर उनको सूत्रबद्ध कर देना उपयोगी समझा गया। शिक्षा-विषयक नियमो का उल्लेख धर्मसूत्रों में हुआ है। ब्राह्मण का उपनयन-संस्कार ८ वें वर्ष मे, क्षत्रिय का ११ वें वर्ष में और वैश्य का १२ वें वर्ष में होता था। उपनयन-संस्कार के बाद अध्ययन भी प्रारम्भ हो जाता था। प्रत्येक वेद के अध्ययन में १२ वर्ष का समय लगता था और वेदत्रयी में शामिल न होने के कारण यदि अथर्ववेद को छोड भी दे, तो भी वेदाध्ययन का काल ३६ वर्ष तक जा पहुँचता है। सभवत इतने लम्बे अर्से तक बहुत कम छात्र आचार्य के आश्रम में रहते होगे। एक वेद का अध्ययन कर के ही बहुत से छात्र सन्तोष कर लेते होंगे। किन्तु मेगस्थनीज का कहना है कि ३७ वर्ष तक भारतीय छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे। पूर्ण चन्द्रमा, नया चन्द्रमा, सब प्रकार के उत्सव, आसमान में

इन्द्र-धनुष का दिखलाई पड़ना तथा आँधी-तूफ़ान आदि के अवसरों पर छात्रों को छुट्टी मिला करती थी।

ईसा से चौथी शताब्दी के पूर्व तक्षशिला विश्व-विद्यालय शिक्षा का बहुत बड़ा केन्द्र था। पाणिनि और चाणक्य भी इस विश्वविद्यालय के छात्र रह चुके थे। चिकित्सा-शास्त्र की दृष्टि से तो तक्षशिला की और भी अधिक प्रसिद्धि थी। राजा बिम्बसार के प्रसिद्ध राजवैद्य जीवक ने तक्षशिला मे ही शिक्षा प्राप्त की थी। तक्षशिला में अनेक संसार-प्रसिद्ध आचार्य शिक्षा देते थे। बड़ी दूर-दूर से तक्षशिला में विद्याभ्यास के लिए छात्र आया करते थे। जातक-साहित्य के अनुसार इस विश्व-विश्रुत विश्वविद्यालय मे शिक्षा प्रारम्भ करने की आयु १६ वर्ष की थी। शिक्षा अपने-अपने स्थानों पर भी मिल सकती थी, पर राजा तथा अन्य धनी लोग अपने लड़कों को दूर के स्थानों में शिक्षार्थ भेजना उपयोगी समझते थे। दो तरह के विद्यार्थी आचार्य से शिक्षा ग्रहण करते थे। पहले 'धम्मन्तेवासिक' जो दिन में आचार्य के यहाँ काम करते थे और रात को शिक्षा प्राप्त करते थे। दूसरे 'आचारिय भागदायक' जो आचार्य के घर में ज्येष्ठ पुत्र की तरह निवास करते थे, और इस प्रकार विद्याभ्यास में लीन रहते थे। क्योंकि कुमार ब्रह्मदत्त आवश्यक फीस लाया था और वह आचार्य के घर पर ही रहता था, अतः उसे नियम-पूर्वक शिक्षा दी गई। तक्षशिला मे शिक्षा पाने की फीस एक हजार कार्षापण थी। जो विद्यार्थी यह फीस दे सकते थे, वे आचार्य के घर में आचार्य ही के प्रबन्ध से पूरे आराम के साथ रहते थे। पर जो विद्यार्थी निश्चित फीस नहीं दे सकते थे, उनके लिए भी तक्षशिला-विश्वविद्यालय में स्थान था। वे [illegible]

बनकर दिन मे काम करते थे और रात में पढते थे। एक तीसरे प्रकार के भी विद्यार्थी होते थे जो न आवश्यक फीस देते थे और न दिन में काम कर रात के पढने से संतुष्ट रहते थे, अपितु प्रतिज्ञा कर लेते थे कि पढाई समाप्त होने पर हम आवश्यक फीस चुका देंगे। एक आचार्य के पास ५०० विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। सभवत यह कल्पना अनुचित न होगी कि इस विश्वविद्यालय मे अनेक कालेज थे जिन में से प्रत्येक में ५०० के लगभग विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे और इन कालेजों के प्रधान अध्यापक को आचार्य कहा जाता था।*

कण्ठाग्र करने को आज दूषित ठहराया जाता है, किन्तु परिस्थितिजन्य विवशता के कारण वेदों को कण्ठाग्र करना उस युग में अत्यावश्यक समझा गया और सच तो यह है कि यदि वेद वंश-परम्परा से कण्ठाग्र न किये जाते तो आज वैदिक-साहित्य का (जो सभवत दुनिया का सब से प्राचीन साहित्य है) कहीं पता न लगता। दूसरी बात यह है कि मनन करने की दृष्टि से भी वैदिक ऋचाओं को कण्ठाग्र करना आवश्यक समझा गया होगा।

शिक्षण-पद्धति में आख्यानों और कथानकों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। उपनिषदों में भी नचिकेता आदि के आख्यान मिलते हैं। पंचतंत्र, हितोपदेश आदि से भी इस बात का पता चलता है कि शिक्षा देने के लिये किस प्रकार कहानियों का प्रयोग किया जाता था। शिक्षण-विधि में प्रश्न-पद्धति का भी बहुत कुछ प्रयोग किया जाता था। आज के शिक्षण-शास्त्री भी शिक्षा-विधि में प्रश्नों के महत्त्व को स्वीकार करते हैं, किन्तु प्राचीन पद्धति और वर्तमान

*मौर्य-साम्राज्य का इतिहास [सत्यकेतु विद्यालंकार] पृष्ठ ६७६-६७७.

पद्धति में बहुत अन्तर है। आज की शिक्षण-विधि के अनुसार तो छात्रों से उत्तर निकलवाने के लिए अध्यापक समुचित प्रश्न पूछता है, किन्तु प्राचीन काल मे विद्यार्थी प्रश्न करते थे और शिक्षक उनका उत्तर देता था। प्रश्न-सम्बन्धी नियम भी बने हुए थे। बिना परिश्रम* के शिक्षक उत्तर नहीं देते थे और प्रश्न का समुचित ढंग से रखा जाना भी आवश्यक समझा जाता था। कभी-कभी शिक्षक की उपस्थिति मे किसी विषय को लेकर छात्रों में पारस्परिक वाद-विवाद भी हुआ करते थे। मनु ने कहा है कि छात्र चतुर्थांश शिक्षक से, चतुर्थांश स्वाध्याय से, चतुर्थांश सहपाठियों से और चतुर्थांश अनुभव से सीखता है।

बौद्धकालीन शिक्षा-पद्धति और नालंद-विश्वविद्यालय—कहा जाता है कि नालंद के दक्षिण मे एक आम का बगीचा था, जिसमें के एक तालाब में एक बड़े नाग के रहने के कारण 'नालंदा' नाम पड़ा। कुछ कहते हैं कि पूर्व जन्म में बुद्ध ने इस स्थान पर तपस्या की थी। यहाँ पर दुखी प्राणियों को अपना सब कुछ देने पर भी वे सन्तुष्ट नहीं हुए थे (न+अलं+दा) इसलिये इस स्थान का नाम नालंदा पड़ा। शक्रादित्य इसका निर्माता था। छात्रों की संख्या दस हजार थी। करीब ४००० कमरे छात्रों के रहने के लिए थे। प्रातःकाल नहाने की घंटी बजती थी। सौ-सौ छात्रों की कतार में विद्यार्थी स्नान करने के लिए निकलते थे। दस हजार विद्यार्थियों को इस तरह मार्च करते हुए देखना बड़ा सुन्दर दृश्य उपस्थित करता होगा। बौद्ध-धर्म के मन्त्यानुसार तैरना अवैध

*तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ गीता

समझा जाता था। शोषनी नामक साबुन का प्रयोग विद्यार्थी करते थे जिसे अपने ही हाथों से वे बना लेते थे। एक विशाल अतिथि-भवन था, जहाँ पर विद्यार्थियों के लिए सब प्रकार की सुविधाओं का प्रबन्ध किया जाता था। शिक्षण-कार्य के लिए ८ भवन थे। निश्चित समय पर छात्र भोजन करते थे। भोजन मे निम्न लिखित वस्तुओं का समावेश होता था—

१२० जम्बीर, २० जायफल, २० खजूर, २॥ तोला कपूर, १ पाव चावल, तीन राशि तेल और कुछ मक्खन।

नालन्द-विश्वविद्यालय की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि यहाँ केवल बौद्ध-धर्म सम्बन्धी ग्रथों का ही अध्ययन अध्यापन नहीं होता था, हिन्दू-धर्म के अध्ययन की भी पूरी सुविधा थी। इससे बौद्ध-सस्कृति की उदारता पर सहज ही प्रकाश पडता है। पर यहाँ बहुत से नियमों का कडाई के साथ पालन करना होता था। भोजन के समय सुर-सुर आवाज करना, हाथ, होंठ और बर्तनों को चाटना मना था। एक बार शीलभद्र के यह पूछने पर कि हम पर इतने प्रतिबन्ध क्यों लगाये जाते हैं, महास्थविर ने नियमित जीवन के महत्त्व का प्रतिपादन किया था।

भिक्षुक (जो मुण्डित-मस्तक होते थे) प्रतिदिन प्रातःकाल तथा सायकाल तेल की मालिश किया करते थे। प्रात.-साय स्वास्थ्य की दृष्टि से भ्रमण करना भी आवश्यक समझा जाता था।

ह्वेनसाँग के कथनानुसार नालद-विश्वविद्यालय में प्रसिद्ध विद्वान् रहते थे जो अध्यापन-कार्य के अतिरिक्त टीकायें और भाष्य भी लिखा करते थे। शास्त्रीय वाद-विवाद बहुत होते थे। दूर-दूर के विद्वान् शास्त्रार्थ मे भाग लेने आते थे जो वाद-विवाद मे

विजयी होजाते थे, उनको राज्य की ओर से जायदाद और प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी। विवाद-भवन के उच्च द्वारों पर विजेताओं के नाम अंकित किये जाते थे। संगीत पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था।

इत्सिंग बहुत समय तक नालंद-विश्वविद्यालय में रहा था। उसने इस विश्वविद्यालय तथा वहाँ के सुप्रसिद्ध विद्वानों की बड़ी प्रशंसा की है। इन विद्वानों के पास रहकर विद्याध्ययन करने का उसे बड़ा गौरव था। कहा जाता है कि प्रसि चरक भी इसी विश्वविद्यलय का छात्र था।

किन्तु नालन्द-विश्वविद्यालय में प्रवेश प्राप्त करना कोई सरल काम न था। द्वार पर ही प्रवेशार्थियों से बड़े कठिन प्रश्न पूछे जाते थे। जो संतोष-जनक उत्तर नहीं दे पाते थे, उनका किसी भी हालत में प्रवेश सम्भव नहीं था। ८० प्रतिशत तक विद्यार्थी प्रवेश प्राप्त करने में असफल रहते थे, और जिनका प्रवेश हो जाता था वे आनन्द से फूले नहीं समाते थे। कहा जाता है कि इस विश्व विद्यालय में दस हजार छात्र रहते थे, फिर भी अनुशासन संबंधी कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता था। ७ वीं शताब्दी में अनुशासन भंग करने के कारण दण्ड देने के उदाहरण बहुत कम देखने में आते थे। रुग्ण तथा ऋणी छात्रों का प्रवेश नहीं हो पाता था। प्रत्येक छात्र को गेरुआ वस्त्र पहनना पडता था। 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि' के विधि विधान को पूरा करना पडता था। ब्रह्मचर्य-पालन पर पूरा जोर दिया जाता था। विद्यार्थी को अपने हाथ से काम करना पडता था, उसे भिक्षा के लिए जाना पड़ता था। आचार्य छात्रों के पथ-प्रदर्शन का कार्य करता था। दस साल अध्यापन-कार्य के

पश्चात भिक्षुक शिक्षक का पद भी ग्रहण कर सकता था।

विक्रमशिला शिक्षा का दूसरा महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। इसके नीचे १०७ मन्दिर और ६ कालेज थे। राजा धर्मपाल ने ८ वीं सदी के अन्त मे इसकी स्थापना की थी।

हिन्दू तथा बौद्ध-धर्म की शिक्षा-व्यवस्था पर ऊपर अत्यन्त सक्षेप में प्रकाश डाला गया है। विस्तार-भय से स्त्रियों की शिक्षा के विषय में कुछ नहीं कहा गया है। प्राचीन भारत में स्त्रियों की शिक्षा की व्यवस्था कैसी थी, यह एक स्वतत्र लेख का विषय है।

तेईस

सत्य-पुरुष गाँधी

शताब्दियों बाद भारत-वसुन्धरा ने उस नर-रत्न को, उस महामानव को जन्म दिया था जो विश्व की प्रयोगशाला में बैठकर आमरण सत्य के साथ प्रयोग करता रहा। उसका समूचा जीवन सत्य की पुस्तक के खुले हुए पृष्ठ थे—वह जहाँ जाता, जहाँ रहता, उसका राम उसके साथ था और उसकी 'रामधुन' उसकी प्रार्थना-सभा का अभिन्न अंग थी। गोस्वामी तुलसीदास के बाद राम पर इतनी अडिग आस्था और किसी की नहीं देखी गई। 'हे राम!' के साथ ही उसकी आत्मा विश्वात्मा में विनिमज्जित हो गई। राम की उपासना और सत्य की उपासना उसके लिए एक ही वस्तु का प्रकारान्तर मात्र था। उसका सत्य ही उसका भगवान् था। संसार के अन्य लोग जहाँ सुख-भोग के इच्छुक होते हैं, वहाँ वह सर्वत्र सत्य का ही अन्वेषी था—

'सुख-भोग खोजने आते सब, तुम आये करने सत्य खोज।' (पंत)

क्या शिक्षा, क्या समाज-सुधार, क्या राष्ट्रीयता—यहाँ तक कि राजनीति में भी वह सत्य के पथ का ही पथिक था। उसकी आत्म-कथा भी 'सत्य के प्रयोग' के अतिरिक्त और क्या है? श्रीरनु देसाई ने गांधीजी का एक चित्र बनाया था 'सत्य की

खोज में।' सच कहा जाय तो यह सत्य की खोज ही महात्माजी के समस्त जीवन-दर्शन का मूलभूत अग है।

गाँधीजी कहा करते थे कि मैंने हिंदुस्तान को कोई नई चीज़ नहीं दी है। पुरानी चीज़ को केवल नये ढग से उपस्थित कर दिया है। राजनीति के क्षेत्र में उनकी सब से बडी देन है 'राजनीति में धर्म का अथवा सत्य का समावेश।' उन्हीं के शब्दों मे "जो बात मै करना चाहता हूँ और करके मरना चाहता हूँ वह यह है कि सत्य और अहिसा को सगठित करूँ। अगर सत्य और अहिंसा सब क्षेत्रो के लिए उपयुक्त नहीं है तो वह झूठ है। मै कहता हूँ कि जीवन की जितनी विभूतियाँ है, सब मे उनका उपयोग है। याद रहे कि सत्य और अहिंसा मठवासी सन्यासियो के लिए ही नहीं है। अदालतों, धारा सभाओं और इतर व्यवहारो में भी ये सनातन सिद्धात लागू होते है।" जो सत्य है वह कभी पुराना नहीं पडता। जिस प्रकार ऊषा का सौन्दर्य कभी पुराना नहीं पडता, उसी प्रकार सत्य की सत्ता भी शाश्वत है। और सत्य क्योंकि कभी पुराना नहीं पडता, इसीलिए उसमें सौन्दर्य बना रहता है। कीट्स ने तो सौन्दर्य और सत्य की एकात्मता का उद्घोष बडे जोरदार शब्दों मे दिया था।

किन्तु यह सच है कि गाधीजी ने राजनीति में जब धर्मनीति का समावेश किया तो यह बात देश के बडे-बडे लोगों को भी बहुत कुछ अटपटी-सी लगी। स्व० रवीन्द्र तक ने यह कहा— "धर्म को, इस महान् निधि को, राजनीति की कमजोर नौका मे जो दलबदी की क्षुद्र लहरों से टकराती रहती है, मत रखो।" गांधीजी ने इसका उत्तर देते हुए लिखा था—"बिना धर्म के

राजनीति एक मुर्दा है जिसका सिवा जला देने के कोई उपयोग नहीं हो सकता।" जो सत्य का उपासक है उसके जीवन में अहिंसा आये बिना रह ही नहीं सकती क्योंकि जीवन का शाश्वत रूप अहिंसा ही ही है, हिंसा नहीं। सत्य का भी व्यावहारिक रूप अहिंसा ही हो सकता है। गांधीजी के जीवन-दर्शन की यदि एक त्रिकोण के रूप में कल्पना करें तो सत्य उस जीवन-दर्शन का आधार है और अहिंसा तथा सत्याग्रह उसकी दो भुजाएँ हैं।

पहले गांधीजी कहा करते थे ईश्वर सत्यरूप है किन्तु ईश्वर एक ऐसा शब्द है जो अपनी जटिल-भावना के कारण सहज ग्राह्य नहीं। फिर एक बात यह भी है कि सभी लोग ईश्वर के मानने वाले भी नहीं, ऐसे भी लोगों का अभाव नहीं जो ईश्वर को गालियाँ तक देते हैं किन्तु सत्य को गाली देने वाला कोई नहीं। झूठा व्यक्ति भी सत्य का छद्म-वेश धर अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन करता हुआ देखा गया है। सम्भवतः इसीलिए बाद में चलकर गाँधीजी ने कहना शुरू कर दिया था—"सत्य ही ईश्वर है।"

गांधीजी ने नीति-शास्त्र अथवा दर्शन-शास्त्र पर कोई ग्रंथ नहीं लिखा था, उनका दर्शन-शास्त्र अथवा नीति-शास्त्र उनके जीवन से उद्भूत है। जीवन में जिस सत्य की साधना उन्होंने की थी, उसी सत्य की कसौटी पर वे प्रत्येक वस्तु के औचित्य अथवा अनौचित्य को कसते थे, परखते थे। प्रश्नों का उत्तर वे पठित साहित्य के आधार पर नहीं देते थे किन्तु अपने अंदर जीवन का जो रस उन्होंने सञ्चित कर लिया था, उसी अमृतमयी संचित निधि के आधार पर वे वातावरण को स्निग्ध बनाये रखते थे। तर्क के पीछे-पीछे उनकी जीवन-पद्धति नहीं चलती थी,

उनकी जीवन-पद्धति के अनुसार उनका तर्क चलता था। राजनीति उनकी धर्म-नीति का अनुसरण करती थी, उनकी धर्म-नीति राजनीति की अनुवर्तिनी नहीं थी। उचित अनुचित का निर्णय करने में वे अपनी अन्तरात्मा की आवाज को ही प्रमुखता देते थे। इस अंतरात्मा की आवाज़ के रहस्य को सब लोग हृदयंगम नहीं कर पाते थे यद्यपि हजारों वर्ष पहले कालिदास ने कहा था—

"सता हि सदेह पदेपुवस्तुपु प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तय : ।"

अर्थात् सत्यासत्य के निर्णय करने में जहाँ सदेह उपस्थित हो, वहाँ सत् पुरुषों के अन्त:करण की प्रवृत्तियाँ ही प्रमाणभूत समझी जानी चाहिए। स्वयं गाँधीजी भी अपनी इस अतरात्मा की आवाज़ को अचूक मानते थे। इस अचूकता के मूल मे भी गाधीजी की अतुल सत्य-निष्ठा, उनकी सत्य-शोध तथा उनकी सत्य-चर्या ही प्रतिष्ठित थी। गांधीजी के लिए एक ही आख्या अथवा सज्ञा सर्वाधिक उपयुक्त ठहरती है और वह है 'सत्य पुरुष।' सर राधाकृष्णन के शब्दों में "अनुभव की प्रयोगशाला में वह न एक समाज-सुधारक, न एक दार्शनिक या नीतिज्ञ किन्तु एक ऐसा व्यक्ति है जो इन सब से मिल कर बना है—मूलत : एक धार्मिक पुरुष"—एक सत्य-पुरुष।

महात्मा गाँधी का वास्तविक स्वरूप क्या था ? क्या वह राजनीतिज्ञ है ? क्या वह दार्शनिक है ? क्या वह आचार शास्त्री है ? क्या वह क्रातिकारी है ? क्या वह धर्मात्मा है ? क्या वह समाज सुधारक है ? क्या वह शिक्षा-शास्त्री अथवा अर्थशास्त्री है ? उत्तर मे क्या कहा जाय ? लगता है जैसे गाँधी प्रश्नवाचक चिह्नों का समुच्चय हो, एक व्यक्ति नहीं, एक ऐसा भाव जो सत्य

के साथ एकाकार होने का आमरण प्रयत्न करता है; उसने जीवन में जो कुछ उपलब्ध किया वह आत्म-लाभ या सत्य की उपलब्धि थी। किन्तु सत्य भी तो एक बहुत जटिल शब्द है—ऐसा शब्द जिसके आगे से प्रश्नवाचक चिह्न संभवतः कभी हटेगा ही नहीं। ढाई अक्षरों का यह छोटा-सा शब्द किन्तु कितना गहन और कितना जटिल! 'कामायनी' का अमर कवि कितनी यथार्थता के साथ कह गया है—

"और सत्य! यह एक शब्द तू कितना गहन हुआ है।
मेधा के क्रीडा-पंजर का पाला हुआ सुआ है।
सब बातों में खोज तुम्हारी रट-सी लगी हुई है।
किन्तु स्पर्श से तर्क-करों के होता छुई-मुई है॥"

आज के बुद्धिवादी युग में चौथे चरण का कोई गलत अर्थ न लगाये। सत्य वास्तव में 'हो जाना है', वह प्रयोगात्मक है—वह केवल 'कहना सुनना' नहीं—निरा बौद्धिक विलास वह कभी नहीं, हाँ, हरगिज़ नहीं!
